विवेक ज्योति

वर्ष ३० अंक २

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल–मई–जून

• १९९२ •

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सह-सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १५/-

एक प्रति ४/५०

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर ४५२ ००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३०] अप्रैल-मई-जून ★ १९९२ ★ [अंक २

ब्रह्म-चिन्तन

पातालमाविशसि यासि नभो विलङ्घ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानस चापलेन ।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनीनं
न ब्रह्म संस्मरसि निर्वृतिमेषि येन ।।

रे मन ! तू अपनी चंचलता के द्वारा कभी तो पाताल में पहुंच जाता है, कभी आकाश के परे विचरण करता है और कभी दशों दिशाओं में दौड़-धूप करता रहता है ; परन्तु जिसके चिन्तन से परम आनन्द की प्राप्ति होती है, अपने उस स्वरूप विमल ब्रह्मतत्व की ओर तू कभी भूलकर भी नहीं जाता ।

—भर्तृहरिकृत ,वैराग्यशतकम्'—७०

अग्नि-मंत्र

(श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को लिखित)

शिकागो,
१५ नवम्बर १८९४

प्रिय दीवानजी साहब,

आपका कृपापत्र मुझे मिला। आपने यहाँ भी मुझे याद रखा, यह आपकी दया है। आपके नारायण हेमचन्द्र से मेरी भेंट नहीं हुई है। मैं समझता हूँ कि वे अमेरिका में नहीं हैं। मैंने कई विचित्र दृश्य और ठाठ बाट की चीजें देखीं। मुझे यह जानकर खुशी हुई कि आपके यूरोप आने की बहुत सम्भावना है। जिस तरह भी हो सके, इसका लाभ उठाइए। संसार के दूसरे राष्ट्रों से पृथक् रहना हमारी अवनति का कारण हुआ एवं पुनः सभी राष्ट्रों से मिलकर संसार के प्रवाह में आ जाना ही उसको दूर करने का एकमात्र उपाय है। गति ही जीवन का लक्षण है। अमेरिका एक शानदार देश है। निर्धनों एवं नारियों के लिए यह नन्दनवन-स्वरूप है। इस देश में दरिद्र तो समझिए, कोई है ही नहीं और संसार में कहीं भी नारियाँ इतनी स्वतन्त्र, शिक्षित तथा सुसंस्कृत नहीं हैं। वे समाज में सब कुछ हैं।

यह एक बड़ी शिक्षा है। संन्यास-जीवन का कोई भी धर्म—यहाँ तक कि अपने रहने का तरीका भी मुझे नहीं बदलना पड़ा है। और फिर भी इस अतिथि-वत्सल देश में हर घर मेरे लिए खुला है। जिस प्रभु ने भारत में मुझे मार्ग दिखाया, क्या वह मुझे यहाँ मार्ग न दिखाता? वही तो दिखा रहा है।

आप कदाचित् यह न समझ सके होंगे कि एक संन्यासी के अमेरिका जाने का भला क्या काम! पर यह आवश्यक था। क्योंकि संसार द्वारा मान्यता प्राप्त करने के लिए आप लोगों के पास एक ही साधन है– वह है धर्म और यह आवश्यक है कि हमारे आदर्श धार्मिक लोग विदेशों में भेजे जाएँ, ताकि दूसरे राष्ट्रों को मालूम हो कि भारत अब भी जीवित है।

प्रतिनिधि के रूप में कुछ लोगों को भारत के बाहर सभी देशों में जाना चाहिए, और नहीं तो कम से कम यह दिखलाने को कि हम लोग बर्बर या असभ्य नहीं हैं। भारत में अपने घर में बैठे-बैठे शायद आपको इसकी आवश्यकता न मालूम होती हो, परन्तु विश्वास कीजिए कि आपके राष्ट्र की बहुत सी बातें इसी पर निर्भर हैं। और वह संन्यासी, जिसमें मनुष्यों का कल्याण करने की कोई इच्छा नहीं, वह संन्यासी नहीं, वह तो पशु है!

न तो मैं एक निरुद्योगी पर्यटक हूँ और न ही दृश्य देखते हुए भटकनेवाला यात्री। यदि आप जीवित रहे तो मेरा काम देख पाएँगे और आजीवन मुझे आशीर्वाद देंगे।

मैं धर्म-महासभा में बोला था, और उसका क्या फल हुआ, यह बताने के लिए जो दो चार पत्र-पत्रिकाएँ मेरे पास पड़ी हैं, उन्हीं से कुछ उद्धरण भेजता हूँ। मैं डींग नहीं हाँकना चाहता, परन्तु आपके प्रेम के कारण, आपमें विश्वास करके मैं यह अवश्य कहूँगा कि किसी हिन्दू ने अमेरिका को ऐसा प्रभावित नहीं किया, और मेरे आने से यदि कुछ भी न हुआ, तो इतना अवश्य हुआ कि

अमेरिकनों को यह मालूम हो गया कि भारत में आज भी ऐसे मनुष्य उत्पन्न हो रहे हैं, जिनके चरणों में सभ्य से सभ्य राष्ट्र भी नीति और धर्म का पाठ पढ़ सकते हैं। क्या आप नहीं समझते कि हिन्दू राष्ट्र को अपने संन्यासी यहाँ भेजने के लिए यह पर्याप्त कारण है ? पूर्ण विवरण आपको वीरचन्द गाँधी से मिलेगा ।

कुछ पत्रिकाओं क अंश मैं नीचे उद्धृत करता हूँ–

"अधिकाँश संक्षिप्त भाषण वाक्पटुत्वपूर्ण होते हुए भी किसी ने धर्म-महासभा के तात्पर्य एवं उसकी सीमाओं का इतने अच्छे ढ़ंग से वर्णन नहीं किया, जैसा कि उस हिन्दू संन्यासी ने । मैं उनका भाषण पूरा-पूरा उद्धृत करता हूँ, परन्तु श्रोताओं पर उसका क्या प्रभाव पड़ा, इसके बारे में मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि वे दैवी अधिकार से सम्पन्न वक्ता हैं और उनका शक्तिमान तेजस्वी मुख तथा उनके पीले गेरुए वस्त्र, उनके गम्भीर तथा लयात्मक वाक्यों से कुछ कम आकर्षक न थे ।" (यहाँ भाषण विस्तारपूर्वक उद्धृत किया गया है) –न्यूयार्क क्रिटिक

"उन्होंने गिरजों और क्लबों में इतनी बार उपदेश दिया है कि उनके धर्म से अब हम भी परिचित हो गए हैं। ...उनकी संस्कृति, उनकी वाक्पटुता, उनके आकर्षक एवं अद्भुत व्यक्तित्व ने हमें हिन्दू सभ्यता का एक नया आलोक दिया है । ...उनके सुन्दर तेजस्वी मुखमंडल तथा उनकी गम्भीर सुललित वाणी ने सबको अनायास अपने वश में कर लिया है । ...बिना किसी प्रकार के नोट्स की सहायता के ही वे भाषण देते हैं, अपने तथ्य

तथा निष्कर्ष को वे अपूर्व ढंग से एवं आन्तरिकता के साथ सम्मुख रखते हैं और उनकी स्वतःस्फूर्त प्रेरणा उनके भाषण को कई बार अपूर्व वाक्पटुता से युक्त कर देती है।"—वही

"विवेकानन्द निश्चय ही धर्म-महासभा में महानतम व्यक्ति हैं। उनका भाषण सुनने के बाद यह मालूम होता है कि इस विज्ञ राष्ट्र को धर्मोपदेशक भेजना कितनी मूर्खता है।"—हेराल्ड (यहाँ का सबसे बड़ा समाचार पत्र)

इतना उद्धृत करके अब मैं समाप्त करता हूँ, अन्यथा आप मुझे अहंकारी समझ बैठेंगे। परन्तु इतना आवश्यक था, क्योंकि आप प्रायः कूपमण्डूक बने बैठे हैं और दूसरे स्थानों में संसार किस गति से चल रहा है, यह देखना भी नहीं चाहते। मेरे उदार मित्र ! मेरा मतलब व्यक्ति के रूप में आपसे नहीं है, सामान्य रूप से हमारे सम्पूर्ण राष्ट्र से है।

मैं यहाँ वही हूँ, जो भारत में था। केवल यहाँ, इस उन्नत सभ्य देश में गुणग्राहकता है, सहानुभूति है, जो हमारे अशिक्षित अज्ञानी देशवासी स्वप्न में भी नहीं सोच सकते। वहाँ हमारे स्वजन हम साधुओं को रोटी का टुकड़ा भी कांख कांख कर देते हैं, परन्तु यहाँ हर व्याख्यान के लिए ये लोग एक हजार रुपया देने और उस शिक्षा के लिए सदा कृतज्ञ रहने को तैयार हैं।

ये विदेशी लोग मेरा इतना आदर करते हैं, जितना भारत में आज तक कभी नहीं हुआ। यदि मैं चाहूँ, तो अपना सारा जीवन ऐशो-आराम से बिता सकता हूँ, परन्तु मैं संन्यासी हूँ और 'हे भारत, तेरे अवगुणों के होते हुए भी मैं तुझसे प्यार करता हूँ।' इसलिए कुछ महीनों के

बाद में वापस आऊँगा और जो लोग न कृतज्ञता का अर्थ जानते हैं और न गुणों का आदर ही कर सकते हैं, उन्हीं के बीच नगर-नगर में धर्म का बीज बोता हुआ प्रचार करूँगा, जैसा कि पहले किया करता था।

जब मैं अपने राष्ट्र की भिक्षुक मनोवृत्ति, स्वार्थपरता गुणग्राहकता के अभाव, मूर्खता तथा अकृतज्ञता की यहाँवालों की सहायता, अतिथि-सत्कार, सहानुभूति और आदर से—जो उन्होंने मुझ जैसे पराये धर्म के प्रतिनिधि को भी दिया—तुलना करता हूँ, तो लज्जित हो जाता हूँ। इसलिए अपने देश से बाहर निकलकर दूसरे देश देखिए एवं उनके साथ अपनी तुलना कीजिए।

अब इन उद्धृत अंशों को पढ़ने के बाद क्या आप नहीं समझते हैं कि सन्यासियों को अमेरिका भेजना उचित है?

कृपया इसे प्रकाशित न करें। मुझे अपना नाम करवाने से अब भी वैसी ही घृणा है, जैसी भारत में थी।

मैं ईश्वर का कार्य कर रहा हूँ और वे जहाँ भी मुझे ले जाएँगे, वहीं जाऊँगा। मूकं करोति वाचालं आदि—जिनकी कृपा से गूँगा वाचाल बनता है और पंगु पहाड़ लाँघता है, वे ही मेरी सहायता करेंगे। मानवी सहायता की मैं परवाह नहीं करता; यदि ईश्वर उचित समझेंगे तो वे भारत में, अमेरिका में या उत्तरी ध्रुव प्रदेश में भी मेरी सहायता करेंगे। यदि वे सहायता न करें, तो कोई भी नहीं कर सकता। भगवान की सदा-सर्वदा जय हो।

आपका
विवेकानन्द

चिन्तन (१०)

क्या दुःख-नाश हो सकता है ?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर उन्हें 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत लेख 'आकशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत है। —सं.)

हमारा जीवन सुख और दुःख से भरा हुआ है। संसार जब तक अस्तित्व में है, तब तक सुख और दुःख दोनों बने रहेंगे। वे मानो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ऐसी अवस्था जीवन में कभी नहीं आएगी, जब केवल सुख ही सुख रहे और दुःख बिल्कुल मिट जाय। तब फिर दुःखों के नाश से क्या तात्पर्य है। हमारे धर्मशास्त्र यह बताते हैं कि जिस प्रकार सुख और दुःख मन की अवस्थाएँ हैं, उसी प्रकार दुःख की निवृत्ति भी मन की ही अवस्था है। मन की यह अवस्था अभ्यास से प्राप्त की जाती है। श्रीरामकृष्ण परमहंस इसका एक सुन्दर उपाय बताते हैं। वे कहते हैं कि संसार में बड़े घर की दासी के समान रहो। यही दुःख-नाश का एकमात्र उपाय है। बड़े घर की दासी बाबू का सारा कामकाज करती है। बाबू के बच्चों को नहलाती है, सँवारती है, भोजन कराती है, घुमाने ले जाती है, 'मेरा राजा बेटा' — कहकर दुलार करती है। यदि बाबू का बच्चा कहीं गिर पड़े, तो दासी 'मेरा लल्ला, मेरा मुन्ना' कहती हुई दौड़ पड़ती है, बच्चे को उठा लेती है, उसे पुचकारती और प्यार करती है। पर वह अपने मन में खूब जानती है कि वह उसका लल्ला,

उसका मुन्ना, उसका राजा बेटा नहीं है। वह यह खूब जानती है कि उसका लल्ला, उसका मुन्ना, उसका राजा बेटा झोपड़ी में पड़ा रो रहा होगा। दासी यह अच्छी तरह जानती है कि बाबू जिस दिन नोटिस दे देंगे, उस दिन से वह घर की दहलीज पर भी पैर नहीं रख सकेगी। वह जिसे आज 'मेरा लल्ला, मेरा मुन्ना, मेरा राजा बेटा'–कहकर गोद में उठाती है, उसे तब छू भी नहीं सकेगी। तो क्या अपने बाबू के बच्चे के प्रति दासी यह जो प्रेम प्रदर्शित करती है, वह सब दिखावा है? नहीं, वह दिखावा नहीं है। दासी सचमुच बच्चे को प्यार करती है। पर उस प्यार में आसक्ति नहीं है। आसक्ति न होने का कारण यह है कि उसमें बच्चे के प्रति मेरा-पन नहीं हैं, ममत्व नहीं हैं। ममत्व, मेरापन या आसक्ति के बिना भी प्रेम सम्भव होता है, और यही यथार्थ प्रेम है। आसक्ति-विरहित ऐसा प्रेम हमें दु:ख से ऊपर उठाने की शक्ति रखता है।

इसीलिए श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि बड़े घर की दासी की तरह रहो। घर-गृहस्थी है, स्त्री-पुत्र-कलत्र हैं–कोई दोष नहीं। सोचो कि वे सब भगवान के दिए हुए हैं अतएव भगवान के हैं। सबको अपना कहो, प्रेम दिखाओ सबके प्रति। पत्नी को 'मेरी प्रिये' कहो, पति को 'मेरे प्रियतम' कहो, बच्चों को 'मेरे लाल', मेरी मुन्नी' कहो–कोई दोष नहीं, पर हृदय के अन्तरतम प्रदेश से यह जानो कि वास्तव में इनमें से मेरा कोई भी नहीं है। ये सब भगवान के है। जिस दिन भगवान का नोटिस आ जाएगा, कोई मेरा न रह जाएगा। सब मुझे छोड़कर चले जायेंगे या मैं ही सबको छोड़कर चला जाऊँगा। वास्तव में

यदि कोई मेरा अपना है, तो वे हैं ईश्वर। यदि कोई मेरी झोपड़ी है, तो वह है प्रभु के चरण। यह ज्ञानदीप भीतर जलाए रखो। यही संसार में रहने का रहस्य हैं। इसी ज्ञान से दुःख की निवृत्ति होती है। यही 'बड़े घर की दासी' के समान संसार में रहना है। मन पर इस विचार-धारा का बारम्बार संस्कार डालना ही अभ्यास कहलाता है।

जब यह अभ्यास सध जाता है, तब सब कुछ ईश्वरमय हो जाता है। किसी प्रियजन की मृत्यु हो गयी—वह भी ईश्वर की इच्छा है। यदि किसी में सफलता मिली तो वह भी ईश्वर की इच्छा है। यदि कोई कार्य न सधा तो वह भी भगवान की इच्छा है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि ऐसा साधक निश्चेष्ट हो जाय, आलसी हो जाय, अकर्मण्य होकर कहने लगे कि प्रयत्न से क्या होगा, सब कुछ तो ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि साधक क्रियाशील बने, प्रबल कर्मपरायण हो। यदि कोई मृत्यु की शय्या पर पड़ा हो, तो उसे बचाने के लिए वह अथक प्रयत्न करे और अगर बचा न सके तो कहे कि ईश्वर की इच्छा है। कार्य की सिद्धि के लिए जी तोड़ परिश्रम करे, पर यदि सफलकाम न हो तो कहे कि ईश्वर की इच्छा है। यही रसायन है जो दुःख पर मरहम का कार्य करता है। हम अपना सारा उत्तरदायित्व ईश्वर पर सौंप देते हैं। इसीलिए हमें दुःख नहीं व्यापता। मुनीम साहूकार के व्यापार को चमकाने की अथक चेष्ठा करता है। यदि साहूकार को घाटा आ गया तो मुनीम दुखित अवश्य होता है, पर घाटे का दुःख उसे व्याप नहीं पाता, क्योंकि घाटा या लाभ उसका नहीं है। वह तो

साहङ्कार का है। इसी प्रकार, "संसार मेरा नहीं है, ईश्वर का है; परिवार मेरा नहीं, ईश्वर का है; मैं तो मात्र एक मुनीम हूँ, भृत्य हूँ" —यह भक्तियोगी की, कर्मयोगी की भाषा है। मन की इसी अवस्था में दुःखों का नाश सम्भव है।

卐

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

अडतीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुडगाछी, कलकत्ता में 'श्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्ण कथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। स.)

ठाकुर का रोग और कलकत्ता आगमन

बँगला में वचनामृत के पाँचों भागों की रचना जिस ढंग से हुई है, उसे देखकर लगता है कि प्रत्येक खण्ड, प्रत्येक अध्याय मानों अपने आप में स्वतन्त्र और सम्पूर्ण है। श्री 'म' ने घटनाओं को ऐसे ढंग से सजा दिया है कि प्रत्येक खण्ड के प्रत्येक परिच्छेद में भक्तों को एक सर्वाङ्ग-पूर्ण तथा सम्पूर्ण चित्र मिल जाता है। घटनाओं के वर्णन के प्रारंभ में मास्टर महाशय वर्णनीय स्थल की एक संक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत कर वहाँ उपस्थित व्यक्तियों के नाम बताते हैं, जिससे पाठक उस दृश्य की कल्पना करके अपने मन में समुचित पृष्ठभूमि तैयार कर ले।

ठाकुर अस्वस्थ हैं, बीमारी असाध्य है, गले में कैन्सर हुआ है। इसीलिए चिकित्सा की सुव्यवस्था हेतु उन्हें श्यामपुकुर के एक मकान में लाया गया है। इन दिनों

मोटर-गाड़ी का प्रचलन न होने के कारण चिकित्सकगण घोड़ा-गाड़ी में कलकत्ते से दक्षिणेश्वर तक जाने के लिए सहज ही राजी नहीं होते थे। लेकिन कलकत्ते में ठाकुर रहेंगे कहाँ ? भक्तों में भी किसी का मकान इतना बड़ा न था, जहाँ ठाकुर एवं उनके सेवकों के रहने के लिए पर्याप्त स्थान हो पाता। एकमात्र बलराम मन्दिर था, लेकिन वहाँ शहर के बीच बहुत से लोगों का आना-जाना होता था। और जो कामारपुकुर तथा दक्षिणेश्वर के उन्मुक्त वातावरण में रहने के अभ्यस्त हैं, वे भला किसी संकीर्ण स्थान में पिजरे के पक्षी की तरह कैसे रह सकते थे ! इसीलिए कलकत्ते में अपने लिए चुने गये पहले मकान में पदार्पण करते ही वे तुरन्त बलराम-मन्दिर चले गए, क्योंकि उस तरह की तंग और पिंजरेनुमा जगह में रहना उनके लिए सम्भव नहीं था। बाद में श्यामपुकुर का मकान मिला।

अब वह मकान दो भागों में बँटा हुआ है। ठाकुर जिस कमरे में रहते थे, उसी में अब स्थानीय भक्तगण काली-पूजा के दिन उत्सव करते हैं, क्योंकि यहीं पर एक दिन भक्तों ने ठाकुर के निर्देश पर कालीपूजा की रात पूजा का आयोजन किया था। परन्तु प्रतिमा लाना, पुजारी तथा पूजा-स्थान निवार्चन आदि व्यवस्था नहीं थी। भक्तगण उत्सुकतापूर्वक ठाकुर के अगले निर्देश की प्रतीक्षा में थे। सन्ध्या हो गयी, ठाकुर गम्भीर समाधि में डूब गए। भक्तगण भी उस ध्यान-गम्भीर परिवेश में ईश्वर का चिन्तन कर रहे थे। सहसा गिरीश बाबू के मन में आया—ठाकुर ही तो साक्षात् माँ काली हैं और यहाँ विराजमान हैं। उन्होंने तुरन्त ही 'जय माँ', 'जय माँ'

कहते हुए उनके चरणों में पुष्पाञ्जलि दी। इसके साथ ही साथ ठाकुर मातृभाव में आविष्ट होकर वराभय मुद्रा में खड़े हो गये। उनकी देह का आश्रय लेकर साक्षात् जगदम्बा भक्तों की पूजा ग्रहण करने के लिए प्रकट हो गयी थीं। उसी दिन की स्मृति में अब भी काली पूजा की रात में वहाँ माँ तथा ठाकुर की विशेष पूजा होती है। उस मकान में हुई उस दिन की घटना का चित्र मास्टर महाशय ने यहाँ अंकित किया है।

सांसारिक जीवन का कौशल

इस परिच्छेद में ठाकुर जो बातें कह रहे हैं, वे किसी के प्रश्नों के उत्तर में नहीं, अपितु स्वगत कथन के समान हैं। सामने ईशान बैठे हैं। वे भक्त, ज्ञानी, जापक हैं–गायत्री, पुरश्चरण आदि बहुत करते हैं; दानी हैं–ऋण लेकर भी दान करते हैं। ठाकुर उनकी बहुत प्रशंसा करते हैं। इसीलिए ईशान को देखकर उनके मन में यह बताने की इच्छा हुई कि संसार में किस तरह रहना चाहिए। वे कहते हैं, "जो संसारी व्यक्ति ईश्वर के पादपद्मों में भक्ति करके संसार का काम करता है, वह धन्य है, वह वीर है। जैसे किसी के सिर पर दो मन का बोझा रखा हुआ हो और एक बरात जा रही हो। इधर तो सिर पर इतना बड़ा बोझा है, फिर भी वह खड़े होकर बरात को देखता है। इस प्रकार संसार में रहना बिना अधिक शक्ति के नहीं होता। जैसे पाँकाल मछली रहती तो कीच के भीतर है, परन्तु देह में कीच छू नहीं पाता। 'पनडुब्बी' पानी में डुबकियाँ लगाया करती है, परन्तु एक ही बार परों को झाड़ने से फिर पानी नहीं रह जाता।"

प्रायः संसार-त्याग की बात कहने पर भी ठाकुर ने कभी ऐसा नहीं कहा कि संसार भगवद्भक्ति अथवा धर्म-जीवन का विरोधी है। वास्तविकता को उन्होंने अस्वीकार नहीं किया; बोले कि मन को पहले से तैयार किये बिना संसार में प्रवेश करने पर एकदम डूब जाओगे। दूध और पानी आपस में मिल जाते हैं, लेकिन उसी दूध को निर्जन में जमाकर, मथकर, मक्खन निकालकर उसे पानी में रखने पर, वह उसमें मिलता नहीं। ठीक उसी तरह मन को भगवद्भाव में डुबाकर, भक्ति के द्वारा मन को तैयार कर उसे संसार में रखने पर भी वह उसमें मिल नहीं पाता। पूर्णतः निर्लिप्त होकर संसार में रहो—यही संसार में रहने का कौशल है। ठाकुर ने बारम्बार इस बात का स्मरण दिला दिया है। "परन्तु संसार में यदि निर्लिप्त भाव से रहना है तो कुछ साधना चाहिए। कुछ दिन निर्जन में रहना जरूरी है, एक वर्ष के लिए हो या छः महीने के लिए अथवा तीन महीने के लिए या महीने भर के लिए हो।" इतने प्रकार से कहने का अभिप्राय यह है कि जिससे जितना हो सके, करे; क्षमता से अधिक कुछ करने का परामर्श किसी को नहीं दिया जाएगा। जो जितना हो सके, मन को तैयार करके संसार में प्रवेश करे। इस प्रकार संसार में प्रवेश करने की बात भला कौन सोचता है?

हम अपने बच्चों को कर्मक्षेत्र में सफलता प्राप्त कराने के लिए उन्हें नाना प्रकार से तैयार करते हैं, परन्तु संसार में प्रवेश करने के लिए किसी तैयारी की भी आवश्यकता है या नहीं, इस पर विचार ही नहीं करते। क्या यथेष्ट धनोपार्जन में सक्षम होने के अतिरिक्त

जीवन में और किसी योग्यता की आवश्यकता नहीं है ? कम से कम थोड़ी भी निर्लिप्तता न रहे तो दुःख-कष्ट तथा यातनाओं की सीमा नहीं रहती, यह जानते हुए भी माता-पिता इसके बारे में चिन्ता नहीं करते। बल्कि यदि कोई पूर्वजन्म के पुण्यों के फलस्वरूप ईश्वराभिमुखी होता भी है, तो उसे जबरन संसार में जकड़ दिया जाता है।

संसार और मन की तैयारी

शास्त्र में ऐसा विधान है कि सुदीर्घ पच्चीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरुगृह में रहकर निर्जन में साधनादि कर लेने के उपरान्त योग्य ठहराये जाने पर ही लोग गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकते हैं। ठाकुर ने भी कहा कि संसार में प्रवेश करने से पूर्व कुछ दिन निर्जन में साधना करके मन को तैयार कर लेना चाहिए। यह तैयारी न होने के कारण ही संसार इतना भयंकर लगता है। संसार के कोलाहल से दूर किसी पहाड़ या समुद्र के किनारे शोरगुल मचाते हुए समय बिताने को निर्जनवास नहीं कहा जा सकता। वे कहते हैं, "निर्जन में जाकर सोचना चाहिए कि संसार में भगवान को छोड़ मेरा कोई अपना नहीं है। मैं उन्हें कैसे पाऊँ ?" नहीं तो फिर संसार को मन में लेकर चाहे जितना भी निर्जन में क्यों न चले जाय, वह संसार हमें आवृत्त किये रहेगा। कर्महीन अवकाश के समय विभिन्न संस्कारों से परिपूर्ण मन पूरी शक्ति लगाकर विपरीत आचरण करता रहता है। इस संग्राम में उतरने से पहले मन को सबल और शक्तिशाली बना लेना पड़ता है। सभी साधकों को अपने जीवन में ऐसा ही अनुभव होता है। अवतारी पुरुषों के

जीवन और मन में भी इस संघर्ष के दृष्टान्त मिलते हैं। यथा, मार के साथ बुद्ध का जो संग्राम हुआ, उसमें मार और कोई नहीं, मन की ही प्रतिकूल वृत्तियाँ हैं।

मन को धीरे धीरे वश में लाना पड़ता है। ईश्वर को ही सर्वस्व मान कर जीवन का लक्ष्य स्थिर करना चाहिए। ऐसा बोध हुए बिना कभी शरणागति का भाव नहीं आ सकता। इसीलिए ठाकुर ने यह उपदेश दिया कि हाथ में तेल लगाकर कटहल फोड़ने के समान अनासक्त होकर राजा जनक की तरह संसार में रहना चाहिए। आसक्ति रहने से ही सारी अशान्तियों, समस्याओं तथा बाधाओं की सृष्टि होती है। संसार में रहना और आसक्त होकर रहना—ये दो भिन्न बातें हैं। देहबुद्धिरहित विदेहराज जनक कहते थे—

> अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किंचन।
> मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दहति किंचन।।
> (महाभारत, शान्तिपर्व १७/१९)

मिथिला अर्थात् उनका ममत्व बोध जो सर्वत्र बिखरा हुआ है, उसके पूर्णतः जलकर भस्म हो जाने पर भी उनका चित्त विक्षुब्ध या चंचल नहीं होता, क्योंकि वे सर्वदा आत्मस्थ है। उनके लिए संसार का त्याग अथवा ग्रहण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ज्ञान में प्रतिष्ठित ब्रह्मज्ञ के लिए संसार और संन्यास आश्रम में कोई भेद नहीं होता। उनके ब्रह्मज्ञान में कोई निकृष्ट-उत्कृष्ट नहीं होता।

इसके पश्चात् ठाकुर थोड़ा सावधान कर देते हैं, "यह संसार में ज्ञानी को भी एक भय रह जाता है।" 'संगात् संजायते कामः'—विषयों के साथ रहते रहते, उनके

प्रति एक तरह का आकर्षण आता है, चित्त भ्रमित हो जाता है। मन को जहाँ रखोगे, वह उसी रंग में रंजित हो जाएगा। अतः ज्ञानी हूँ यह सोचकर साहस करके विषयों में कूद नहीं पड़ना चाहिए। त्याग के सम्बन्ध में ठाकुर के मन में कोई समझौता नहीं है। उनके जीवन में केवल एक ही चीज है–भगवान। भगवान के अतिरिक्त वे और कुछ नहीं जानते, यह बात वे विभिन्न प्रसंगों में बारम्बार कह चुके हैं– माँ की सौगन्ध, भगवान को छोड़ मैं और कुछ नहीं जानता। अतः जो कुछ भी भगवद्भाव का विरोधी है, उसके साथ वे कोई समझौता नहीं करते। यहाँ पर स्मरणीय है कि ठाकुर जिन लोगों से ये बातें कह रहे हैं, वे प्रायः सभी गृहस्थ हैं, इसलिए उनके लिए जो कुछ शिक्षणीय है उन्हीं बातों का यहाँ पर वे उल्लेख करते हैं। ठाकुर कहते हैं, "परन्तु संसार में यदि निर्लिप्त भाव से रहना है तो कुछ साधना चाहिए। कुछ दिन निर्जन में रहना जरूरी है, एक वर्ष के लिए हो या छः महीने के लिए, अथवा तीन महीने के लिए या महीने ही भर के लिए। उसी एकान्त में ईश्वर का चिन्तन करना चाहिए। और मन ही मन कहना चाहिए– 'इस संसार में मेरा कोई नहीं है, जिन्हें मैं अपना कहता हूँ, वे दो दिन के लिए हैं भगवान ही मेरे अपने हैं, वे ही मेरे सर्वस्व हैं। हाय ! किस तरह मैं उन्हें पाऊँ' ?"

ये बातें साधकों के लिए हैं। साधारण मनुष्य इन बातों को सुनकर घबरा जाएगा कि जिन्हें मैं इतना अपना समझता हूँ, वे मेरे कोई नहीं हैं। इस बात से घबराने पर क्या भगवान की ओर अग्रसर हुआ जा सकेगा ? संसार में हम सबको साथ लेकर आनन्दपूर्वक रहेंगे और

भगवान का भी आस्वादन करेंगे – अब क्या ये दोनों बातें एक साथ होना सम्भव हैं ? यह तो मन का प्रश्न है और हम सोचते हैं कि यह भी करेंगे और वह भी करेंगे– ऐसा नहीं होता ।

संन्यासी हो या गृहस्थ, भगवान को पाने हेतु उनके लिए सर्वस्व का त्याग करना पड़ता है । अन्तर यह है कि गृहस्थ कुछ दिन साधना करके, मन को तैयार करके संसार में रह सकता है, इसमें कोई दोष नहीं और संन्यासी अपना सारा जीवन उसी भाव में बिताते हैं, उनके लिए संसार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

ठाकुर ने अनेक स्थानों पर कहा है कि गृही का क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा । भक्तगण गृहस्थी में जकड़े हुए हैं, यह प्रश्न बारम्बार उनके मन में उठता है कि क्या हमारा भी होगा ? ठाकुर केवल तसल्ली देने के लिए नहीं कहते कि अवश्य होगा । ऐसा नहीं कहते कि जैसे हो वैसे ही रहो, तुम्हारा हो जाएगा । वे साधना के द्वारा मन को तैयार करने को कहते हैं । दूध को दूध ही न रखकर, उसका दही जमाकर मक्खन निकालकर, तब उसे संसाररूपी जल में रखने पर वह उसमें मिल नहीं पाएगा । निर्लिप्त होकर उतराता रहेगा ।

हम प्रारम्भ से ही सोचते हैं कि हम भी राजा जनक की तरह रहेंगे । वे ज्ञानी थे, तथापि उन्होंने संसार का त्याग नहीं किया । बड़ी अच्छी बात है । ठाकुर कहते हैं, राजा जनक के सम्पूर्ण जीवन पर क्या तुम्हारी दृष्टि गयी है ? निर्लिप्त भाव से रहने के लिए उन्होंने कठोर तपस्या के द्वारा जो योग्यता अर्जित की थी, वह क्या

तुमने की है ? वैसा किए बिना ही संसार में रहना चाहते हो ? इस तरह तो राजा जनक के समान संसार में रहना नहीं होता। ठाकुर यहाँ पर जो कहते हैं, साधारण मनुष्य को वह पसन्द नहीं। वह तो चाहता है कि इहकाल-परकाल जैसा चल रहा है, वैसा ही चलता रहे और ऊपर से थोड़ा भगवान का भी आस्वादन कर लूं – पर ऐसा नहीं होता।

भगवान का आस्वादन करने के लिए उनके पादपद्मों में सर्वस्व समर्पण करना होगा। लेकिन क्या हम सब कुछ दे सकते हैं ? ठाकुर साधना के द्वारा मन को तैयार करने को कहते हैं ताकि उनके भाव में विभोर होकर रहा जा सके। वह भगवत्परायण मन चाहे संसार में रहे या बाहर रहे, कोई भय नहीं। दरअसल बात यह है कि संसार न अच्छा है और न बुरा है। वह हमारे धर्मपथ के लिए न प्रतिकूल है और न अनुकूल। हम उसके साथ जिस ढंग से व्यवहार करते हैं, वह भी उसी ढंग से हमारे साथ व्यवहार करता है। आसक्ति-परायण मन को लेकर संसार में रहने से वह हमें बिल्कुल बद्ध कर देगा। मन को अनासक्त रखने की चेष्टा करते हुए संसार में रहने में दोष नहीं है। हम लोग गाते समय, 'नाथ तुम्हीं सर्वस्व हमारे' कहते हैं। वह क्या केवल गाने के लिए है ? गाने के वास्तविक मर्म को समझकर जीवन के प्रधान लक्ष्य को उसी भाव में स्थिर करना पड़ता है। जब तक यह बोध नहीं होता कि वे ही मेरे सर्वस्व हैं, तब तक उनके चरणों में आत्म-समर्पण करना सम्भव नहीं। मन को इस प्रकार तैयार करना होगा कि वह भगवान में तन्मय होकर रह सके। यदि कुछ काल के लिए भी ऐसा हो, तो उसमें भी लाभ

है। उस भाव में यदि एक बार कोई अभ्यस्त हो जाय, तो संसार उसे आकृष्ट नहीं कर सकेगा। वे बड़े चुम्बक हैं, उनका आकर्षण प्रबल है, उन्हें नकार कर संसार मनुष्य को खींच नहीं सकता।

इस आकर्षण का अनुभव करने के लिए मनुष्य को काफी परिश्रम करना पड़ता है, कठोर साधना, तपस्या आदि करनी पड़ती है। पहले मन को हजारों बन्धनों से पूरी तरह छुड़ाकर, तब भगवान की ओर जाना होगा। कठोर संग्राम के लिए तैयार होकर ही इस पथ पर अग्रसर होना होगा, अन्यथा नहीं होगा। पर प्रारम्भ में मनुष्य को इस पथ पर आश्वस्त करने के लिए कहा गया है, 'मागुर माछेर झोल, युवती मेयेर कोल, बोल हरी बोल।' तात्पर्य यह है कि लालच से हो चाहे श्रद्धा से, नाम लो, तो सब हो जाएगा। इस तरह नाम लेना आरम्भ करने से समझ में आ जाएगा कि हम कहाँ हैं। यदि आग्रह हुआ तो समझ में आ जाएगा कि जिस तरह नाम ले रहा हूँ, वह यथेष्ट नहीं है। और अग्रसर होने के लिए त्याग स्वीकार कर कठोर संग्राम करना होगा। मन को शुद्ध करने पर ही वह भगवान की ओर जाएगा। वह शुद्धि किस प्रकार आएगी?

जीवन का लक्ष्य

पहले आचारशुद्धि करनी होगी; समस्त आचरण ऐसे करो कि मन भगवान की ओर जाने के लिए अनुकूल हो। इसके बाद प्रश्न उठेगा कि मैं उनकी ओर बढ़ पा रहा हूँ या नहीं? स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज कहते थे, "बहुत से लोग जप-ध्यान करने के कुछ ही दिन बाद

आकर कहते हैं—महाराज, मेरा तो कुछ भी नहीं हो रहा है।" वे उनसे कहते, "अच्छा, मैं जो कहता हूँ उसे लगातार तीन साल तक करो, यदि फिर भी कुछ न हुआ तो आकर मुझे थप्पड़ मारना।" बिल्कुल यही भाषा उपयोग की है उन्होंने। ऐसा क्यों कहते हैं वे ? इसलिए कि हम कोई मूल्य दिए बिना ही वस्तु पा लेना चाहते हैं। बिना मूल्य दिए तो इस संसार में कोई सामान्य वस्तु भी नहीं मिलती। फिर भला वह अमूल्य भगवद्-भाव कैसे मिल सकेगा ? उसका मूल्य चुकाना होगा। कीर्तनिया गाता है– गोपियों के नदी पार होने के निमित्त आने पर श्रीकृष्ण कहते हैं, ऐसे तो पार नहीं करूँगा, भाड़ा देना होगा। एक लक्ष कौड़ियाँ। उसके बाद कीर्तनिया शब्द जोड़ता है, लक्ष-लक्ष लक्ष्यों को छोड़ एक लक्ष्य होना चाहिए। एकलक्ष्य होकर भगवान को कितने लोग चाहते हैं। प्रारम्भ में ही एकलक्ष्य होना सम्भव नहीं है। इसलिए उनका थोड़ा सा स्वाद पाने के लिए अनेक प्रकार से पूजा, भजन, कीर्तन, भक्तसंग करते हुए वह क्रमशः उस पथ पर अग्रसर होता है। ठाकुर निर्जन में भगवान का चिन्तन करने को कहते हैं। तात्पर्य यह कि संसार के परिवेश से दूर जाकर, उन्हें छोड़ मेरा और कोई नहीं है – ऐसा चिन्तन करने से उनकी ओर जाने योग्य मन की अवस्था होगी। प्रारम्भ में ही तीव्र वैराग्य सम्भव नहीं है। परन्तु भय के कारण कहीं हम साधना आरम्भ ही न करें, इसी कारण शास्त्र प्रत्येक व्यक्ति को आरम्भ करने योग्य एक सुगम मार्ग बता देते हैं। अगणित कामनाओं से जर्जर मनुष्य से कहते हैं – कामनाएं हैं तो रहें, भगवान कल्पतरु हैं, वे पूर्ण कर देंगे। तब मनुष्य

सोचता है कि एक बार कोशिश तो करके देखें। फिर चलते चलते क्रमश: आकर्षण बढ़ता जाता है और उनके साथ ही माया का बन्धन भी शिथिल होता रहता है। माया का जो बन्धन इतना प्रिय लगता है, वह उनकी कृपा से धीरे-धीरे दूर हो जाता है। पर इसके पहले ही यदि लगे कि माया का बन्धन न रहने पर फिर संसार कैसे करेंगे? तब तो मुश्किल है! संसार में रहना दोष-पूर्ण नहीं है, पर भगवान को छोड़कर संसार में रहने से दुखों का छोर नहीं मिलता। यह जगत अनित्य है, भगवान कहते हैं, 'यहाँ आकर मेरा भजन करो।' उनका भजन करने से इस अनित्य संसार में एक अवलम्बन मिल जाएगा, जो हमारी समस्त आकांक्षाओं के विषयों को तुच्छ कर देगा। भागवत में कहा गया है – वह आकर्षण अन्य समस्त आकर्षणों को भुला देता है। लेकिन इस आकर्षण का अनुभव हमें एक दिन में नहीं, धीरे धीरे होगा। गृहीजन को भी होगा!

अब प्रश्न उठता है कि गृहस्थाश्रम के ज्ञानी और संन्यासाश्रम के ज्ञानी – इन दोनों में क्या भेद है? ठाकुर कहते हैं – कोई भेद नहीं। पर संसार में ज्ञानी को भी भय है। "धान के लावे जब भूने जाते हैं तब दो-चार भाड़ के बाहर छिटककर गिर पड़ते हैं। वे चमेली के फूल की तरह शुभ्र होते हैं, देह में कहीं एक भी दाग नहीं रहता। जो लावे कड़ाही में रहते हैं, वे भी अच्छे होते हैं, परन्तु उन बाहरवालों के समान नहीं होते, देह में कुछ दाग होते हैं।" ज्ञान हो जाने के बाद संसार में रहने में दोष नहीं है, ज्ञान उससे प्रतिबन्धित नहीं होता, फिर भी थोड़ी सी दाग की लालिमा रहती है, अर्थात् दूसरों की

दृष्टि में वह खिले हुए चमेली के फूल के समान उज्ज्वल नहीं रह जाता । खैर वह तो बाद की बात है। इसलिए ठाकुर गृही लोगों को मन को तैयार करने की बात करते हैं। इस विषय में उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। उनका धर्म कभी दिखावे मात्र का नहीं था कि जिसे प्रदर्शन करके धार्मिक कहलाया जा सके।

सांसारिक आघात और ईश्वरार्थ व्याकुलता

भगवान को पाने के लिए सर्वप्रथम तो संसार के प्रति आसक्ति को त्यागना होगा। जो अत्यन्त आसक्त हैं उनका धर्म-जीवन अभी प्रारम्भ ही नहीं हुआ है। ठाकुर कहते हैं, 'खा लो, पहन लो' — अर्थात् भोग कर लो परन्तु इससे जीवन की अतृप्ति दूर नहीं होगी। ये रूप-रस आदि के आकर्षण मनुष्य को कुछ काल के लिए मुग्ध कर सकते हैं, लेकिन उसके भीतर अपने पूर्ण स्वरूप को पाने की आकांक्षा सोयी हुई है। वह क्षणिक आनन्द नहीं, निरविच्छिन्न, अनन्त, अपार आनन्द पाना चाहता है। जो देश-काल-निमित्त के द्वारा सीमित न हो, ऐसा आनन्द पाये बिना मनुष्य को तृप्ति नहीं मिल सकती। इसीलिए जिन्हें संसारासक्त बद्ध जीव कहते हैं, उनके लिए भी मुक्ति का एक उपाय है। भगवान ने उन्हें एक प्रकार की अतृप्ति दे रखी है, जिसे स्वामीजी कहते हैं Divine discontent (दिव्य अतृप्ति)। यह दिव्य अतृप्ति ही मनुष्य को चारों ओर यह खोज करने को बाध्य करती है कि इस निरविच्छिन्न आनन्द को कैसे पाया जाय। विलासिता, सुख और समृद्धि के भीतर भी बीच-बीच में इस अतृप्ति का असंतोष जाग उठता है। लगता है मानो कोई अभाव है जो अब तक पूरा नहीं

हुआ है और जगत् की भोग्य वस्तुओं में वह प्राप्य भी नहीं है। भगवान बुद्ध का दृष्टान्त देकर कहा जाता है कि विपुल राज-ऐश्वर्य तथा भोग-सुखों के बीच भी उनका हृदय एक अव्यक्त वेदना से आकुल रहता था। क्रमशः इसी वेदना ने अभिव्यक्त होकर उनसे संसार-त्याग करा दिया। तो फिर क्या सभी को संसार का त्याग करना होगा? वही पुराना प्रश्न और वही पुराना उत्तर–नहीं। ठाकुर ने ऐसा करने को कहा भी नहीं। लेकिन संसारासक्ति और भगवदासक्ति दोनों एक साथ नहीं रह सकते–'दोउ संग नहिं रह सकहिं, रवि रजनी इक ठाम।' दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार के समान संसारासक्ति और भगवदनुराग, दोनों कभी भी एक साथ नहीं मिल सकते। एक दूसरे को दूर कर देते हैं। संसारासक्ति ने भगवदासक्ति को म्लान कर रखा है, लेकिन साधना के परिणामस्वरूप संसारासक्ति क्रमशः शिथिल होगी एवं भगवदानुराग प्रबल होगा। जब तक यह नहीं होता तब तक संसार में डूबते-उतराते रहना होगा, असीम दुःख सहते रहना होगा। आघात पर आघात पाकर, थोड़े वैराग्य की उपलब्धि कर, हो सकता है दृष्टि अन्तर की ओर मुड़ जाय। यह व्यवस्था भी उन्होंने कर रखी है; सृष्टि की संरचना ऐसी है कि मनुष्य चिरकाल तक आत्मविस्मृत नहीं रह सकता। कभी न कभी उसके मन में एक आकांक्षा जागेगी ही। वह आकांक्षा सम्भव है वह ठीक से व्यक्त न कर पा रहा हो; वह ठीक-ठीक क्या चाहता है यह समझ न पा रहा हो। पर कुछ न कुछ वह चाहता है, और उसे पाये बिना उसे तृप्ति नहीं मिलेगी। जीव को भगवान का यही सर्वश्रेष्ठ दान है।

कभी-कभी हम कहते हैं कि भगवान ने दुःख कष्ट दिये हैं। परन्तु यह उनका महादान है। सुखमय संसार में डूबे रहने पर क्या हम कभी उनका रसास्वादन कर पाते ? नहीं इस परम आनन्द से हम चिरकाल तक वंचित रहते। संसार में इतनी जो समस्याएँ हैं, इतनी दुःख यातनाएँ झेलनी पड़ती हैं, उन्हें इस दृष्टि से यदि देखें तो लगेगा कि अहा, उनकी कितनी दया है।

दिवा निशि जतो दुःख दियेछो दितेछो तारा
से तो मुधु दया तब, जेनेछि माँ दुःखहरा।

—"हे जगदम्बे तुमने मुझे जितना भी दुःख दिया है और दिन-रात दे रही हो, अब मैं समझ गया हूँ कि वह सब तुम्हारी दया का ही फल है।" यदि हम इन दुःख-कष्टों को उनकी असीम कृपा मानकर ग्रहण कर सकें तो समझना चाहिए कि हममें क्रमशः भगवान की ओर बढ़ने की योग्यता आ रही है। ठाकुर से यही प्रार्थना करना चाहिए कि जैसे भी हो, हमारा मन उनकी ओर थोड़ा जाय, ताकि संसार की आसक्ति धीरे-धीरे शिथिल हो जाय। इसके बाद संसार त्याग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। असल वस्तु वे हैं। संसार त्यागकर हम कहाँ जाएँगे। जब तक वे हमारे हृदय को परिपूर्ण नहीं कर देते तब तक जाने को कोई स्थान नहीं है। वे ही एकमात्र ऐसे आश्रय हैं, जहाँ पर इन समस्त दुःखों का अवसान होता है। अतः ठाकुर हमें ऐसी प्रार्थना करना सिखाते हैं कि हम इन दुःखों के भीतर से ही होकर उनकी ओर बढ़ सकें।

ठाकुर ने 'पहले मन को तैयार करके संसार में प्रवेश करने को' तो कह दिया, पर हममें से कितने लोग वैसा

कर रहे हैं ? हममें से कितने लोग भगवान को चाह रहे हैं ? विशेष उद्देश्य लेकर मनुष्य गृहस्थी में प्रवेश करता हो ऐसी बात नहीं। गतानुगतिक भाव से जीवन चलता है। छोटे से बड़े हुए, फिर विवाह आदि किया, संसार में काम-काज किया और मर गये। वंशपरम्परा से इसी प्रकार चलता आ रहा है। जीवन के उद्देश्य के बारे में कितने लोग सचेत रहते हैं ? जीवन मानो एक उद्देश्य-हीन यात्रा है, ऐसी यात्रा की कोई सार्थकता नहीं। इसीलिए हम भटकते हुए मर रहे हैं। जो लोग गतानु-गतिक भाव से जीवन बिता रहे हैं, ठाकुर यहाँ उनके बारे में नहीं कह रहे हैं। यहाँ पर वे उन साधकों की बात कर रहे हैं, जो भगवान को पाने के उद्देश्य से संसार में जाते हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि मन को तैयार करके जाने पर गृहस्थाश्रम प्रतिकूल नहीं होगा। थोड़े भय की बात भी उन्होंने कही – कागज की कोठरी में रहने से कुछ न कुछ दाग तो लगेगा ही, पर यह भी कहा कि उस दाग से कोई क्षति नहीं होती।

जिन्हें वे सबके समक्ष दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत करेंगे, उन्हें चमेली के फूल के समान बेदाग चाहते हैं। चरम लक्ष्य को स्थिर करने के लिए वे प्रस्फुटित चमेली के समान भाड़ से छिटक कर बाहर पड़े हुए लावे का दृष्टान्त देते हैं। अर्थात् मन ही मन संसार त्यागना ही यथेष्ट नहीं है। बाहर का त्याग भी आवश्यक है। दृष्टान्त के रूप में ही इस त्यागमय जीवन की आवश्यकता है।

राजा जनक

राजा जनक का दृष्टान्त बड़ा प्रचलित है। ठाकुर कहते हैं –,कहने मात्र से ही क्या कोई जनक हो जाता

है ? वे विदेह जनक हो गये थे। विदेह अर्थात् देहबोध रहित अवस्था। जो देहबोध से रहित है, वह चाहे संसार के भीतर रहे या बाहर, उसके लिए दोनों ही समान हैं। क्योंकि केवल उसका शरीर ही संसार में रहता है। जो 'मैं देह नहीं हूँ' इस ज्ञान में स्थित हो जाता है, उसके लिए संसार में रहना और संसार का त्याग करना एक समान है। लेकिन जब तक 'मैं' का अवलम्बन रहता है तब तक देहबोध भी बना रहता है। और देहबोध रहने के कारण यह विचार करने की आवश्यकता है कि क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य है। नहीं तो फिर ऐसे विचार की आवश्यकता नहीं होती।

राजा जनक के सम्बन्ध में संन्यासियों का भी एक अभिमत सुनने में आता है। वे कहते हैं, कि राजा जनक गृहस्थों के आदर्श हो सकते हैं, पर त्यागियों के नहीं। विदेह होकर भी प्रारब्धवश उन्हें संसार में रहना पड़ा। वे लोग कहते हैं कि भले ही राजा जनक संसार में रह सकते हैं, लेकिन रहते क्यों हैं ? उन्हें संसार में रहने की जरूरत नहीं। यह विधि का विधान था कि गृही लोग उन्हें आदर्श के रूप में पा सकें। इसलिए वे संसार में रहे। आचार्य शंकर ने गीता की व्याख्या करते हुए उनके बारे में कहा है—'कर्मणैव संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' अर्थात् जनक ने कर्म के द्वारा ही संसिद्धि या मुक्ति पायी थी। कर्म के द्वारा मुक्ति पाने की उन्होंने दो प्रकार से व्याख्या की है। कर्म के द्वारा जिन जनकादि ने मुक्ति पायी है, वे साधक थे अथवा सिद्ध। साधक रहे हों तो निष्काम भाव से कर्म करते हुए सिद्धि प्राप्त कर सकते है। या फिर "कर्मणासह"—कर्म को एक करण या उपाय

के रूप में ग्रहण किया गया है। कर्म उनके मुक्तिपथ में बाधक नहीं होता। यहाँ पर राजा जनक को मुक्त नहीं भी कहा जा सकता है। और मुक्त होकर भी उन्होंने कर्मसह निवास किया है, मानो दैवनिर्दिष्ट होकर वे उसके भीतर रहे हों। दृष्टान्तस्वरूप कहा जा सकता है कि नाग महाशय ने जब ठाकुर के समक्ष संसार त्याग की अपनी इच्छा व्यक्त की तो उन्होंने कहा था, 'नहीं, संसार का त्याग मत करो,' गृहस्थों के लिए यह दृष्टान्तस्वरूप होगा। सबके भगवत्प्राप्ति के लिए निकल पढ़ने पर गृही-जन के मन में दुर्बलता आएगी और वे सोचेंगे कि उनके लिए कोई रास्ता नहीं है। शास्त्र सबके लिए पथ-प्रदर्शन करते हैं।

साधना करके मुक्त हो जाने पर फिर संसार में प्रवेश करने की इच्छा भला क्यों होगी ? सचमुच, शायद किसी को भी ऐसी इच्छा नहीं होगी, किन्तु सम्भव है कोई दैवप्रेरित होकर जनक के समान संसार में प्रवेश करे। संसार के भीतर या बाहर के – दोनों प्रकार के लोग – ज्ञानी के रूप में समान हैं। इस सम्बन्ध में शास्त्र कहते हैं, 'स ब्राह्मण: केन स्यात्, येन स्यात् तेन ईदृश एव' – वे ब्रह्मज्ञ पुरुष कैसे रहेंगे ? चाहे जैसे भी रहें, वे ब्रह्मज्ञ ही रहेंगे। जब उन्होंने जान लिया है कि मैं देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि कुछ भी नहीं हूँ तब उनमें देह के प्रति 'मैं' बुद्धि क्यों होगी ? ठाकुर ने आगे जो दो प्रकार के लावे की बात कही, उसका तात्पर्य यह है कि वे मानों संकेत करते हैं कि हो सके तो उसी प्रस्फुटित चमेली के समान बेदाग बनो।

आचार्य और आदर्श

इन दोनों अवस्थाओं के ज्ञान में कोई भेद नहीं होता, तथापि आचार्य होने के लिए बेदाग होना चाहिए। एक अन्य स्थान पर दृष्टान्त देते हुए ठाकुर कहते हैं — वैद्यजी के घर में गुड़ के अनेक घड़े थे। एक व्यक्ति क चिकित्सा हेतु आने पर उन्होंने उसे किसी अन्य दिन आने को कहा। दूसरे दिन उसके आने पर उन्होंने कहा — गुड़ मत खाना। एक व्यक्ति जो वैद्यजी के घर दोनों ही दिन उपस्थित था, उसने पूछा, यह निर्देश तो आप पहले दिन ही दे सकते थे, फिर उस बेचारे को इतना क्यों घुमाया? वैद्यजी ने कहा — उस दिन मेरे घर में गुड़ के घड़े थे। उसे मना करने पर वह सोचता — खुद तो गुड़ खाते हैं और मुझे मना कर रहे हैं। ऐसा नहीं चलता। जो आचार्य होंगे, उन्हें भीतर बाहर सब त्याग करना होगा। जो केवल मुक्ति चाहता है उसका केवल मन से त्याग ही यथेष्ट है।

पर जो भीतर बाहर दोनों ही से त्याग करता है, वह क्या आचार्य होने के लिए करता है? नहीं, ऐसा नहीं है। मनुष्य के अन्तःकरण में संस्कारवश स्वतः ही ऐसी प्रेरणा होती है। गृहस्थों से ठाकुर कहते हैं — मन से त्याग करने से ही हो जाएगा। सबको त्याग के लिए कहने पर बौद्ध धर्म जैसी हालत हो जाएगी। बौद्ध धर्म में सबको त्यागी बनाने के प्रयास में आदर्श ही विकृत हो गया, अवनत हो गया। सबके संस्कार इतने प्रबल नहीं होते कि वे संसार छोड़कर चले जायँ।

इसलिए ठाकुर गृहस्थों से कहते हैं — विचारपूर्वक, संयम के साथ भोग करो। कोई यदि कहे कि विचार-

पूर्वक भोग करने की क्या आवश्यकता है ? तो उन्हें वे कहते हैं – हाँ, क्या आवश्यकता, मत करो । इस कारण उनके उपदेश बाह्य दृष्टि से परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हैं ।

श्री सारदादेवी से जब कोई पूछता, "माँ क्या मैं विवाह कर लूं ?" तो वे कहती "अवश्य करो बेटा, इस संसार में तो सब जोड़े-जोड़े ही है ।" विवाह न करने मात्र से ही क्या ईश्वर की प्राप्ति हो जाएगी ? और जब कोई कहता, "माँ, मुझे संसार में डूबने की इच्छा नहीं होती ।" तो माँ कहतीं, "बात तो सच्ची है । संसार में भला है ही क्या ?" ऊपर से लगता है कि ये दोनों परस्पर-विरोधी बातें हैं । लेकिन ऐसा नहीं है । जिसके पेट में जैसा भोजन सहता है, उसके लिए माँ वैसी ही व्यवस्था कर देती है । शास्त्र भी माँ के समान कल्याणकारी हैं; जिसे जो अनुकूल लगेगा, उसे वही चुन लेना होगा ।

मन में द्वन्द्व नहीं रखना चाहिए । अन्यथा दुःख कभी दूर नहीं होंगे । ठाकुर की भाषा में, पनिहा साँप के मेढक पकड़ने जैसी गति होगी । संसार को दिल से पकड़ भी नहीं सकते और छोड़ भी नहीं सकते । शास्त्र इस तरह की द्विधा में रहने का उपदेश नहीं देते । इसीलिए शास्त्र में अधिकारी-भेद की बात विशेष रूप से कही गयी है । जो शंकराचार्य इतनी वैराग्यपूर्ण बातें कहते हैं, वे ही 'संन्यास का स्वरूप क्या होगा' इस प्रसंग में कहते हैं – कोई संन्यास माँगे तो कहना चाहिए – भाई बड़ा कष्टकर पथ है, इस पर मत आओ । संसार में रहो, वहीं भगवान मिलेंगे । फिर भी अगर कोई जिद करे तो कहना, 'बद्रिकाश्रम हो आओ ।' भिक्षा माँगते हुए पैदल चल कर

वहाँ से लौटने में उन दिनों लगभग एक वर्ष लग जाता था। इसके बाद भी यदि वह संन्यास लेना चाहे, उसका वैराग्य प्रबल हो, आदर्शच्युत न हुआ हो, तब अन्य प्रकार से भी उसकी उपयुक्तता पर विचार करके उसे संन्यास देना। तात्पर्य यह है कि अधिकारी का विचार करके ठीक निर्णय लेना होगा।

'अधिकरणमासास्ते फलसिद्धिर्विशेषत:' – अधिकारी ही सिद्धिलाभ कर सकता है, अनधिकारी नहीं। शास्त्र कहते हैं कि यह पथ कठिन है – 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गपथस्तत् कवयो वदन्ति' – पथ तीक्ष्ण छुरे की धार के समान है। चलते-चलते पाँव क्षत-विक्षत हो जाएगा।

परन्तु केवल त्यागियों का मार्ग ही क्यों, संसारियों का मार्ग भी कोई कुसुमाच्छादित नहीं है। ठाकुर कहते हैं यह वीरों का काम है। इतना उत्तरदायित्व वहन करते हुए भी मन को भगवान में स्थिर रखना क्या कोई आसान बात है? वे कहते हैं कि सर्वत्यागी यदि ईश्वर का चिन्तन न करे तो उसे धिक्कार है। जो लोग संसार का बोझ उठाए हुए भगवान की ओर बढ़ रहे हैं, उनकी वे प्रशंसा करते हैं – अहोभाग्य है उसका। इसी वीरता का भाव लेकर श्रद्धापूर्वक संसार में प्रवेश करना होगा। इस पथ पर चलते हुए दृढ़ विश्वास रखना होगा कि इसी से लक्ष्य तक पहुँच सकूँगा।

जैसे चन्द्रमा का कलंक उसके सौन्दर्य को हानि नहीं पहुँचा पाता, उसी तरह ज्ञानी हो जाने के बाद संसार में रहने से ज्ञान में बाधा नहीं आती।

इसके पश्चात् कहते हैं, "पूर्ण ज्ञान होने पर पाच वर्ष के बालक के समान स्वभाव हो जाता है, तब स्त्री और पुरुष में भेद बुद्धि नहीं रह जाती।" राजा जनक की सभा में एक भैरवी आई तो उन्होंने सिर झुका लिया इस पर भैरवी ने कहा – जनक में अब भी स्त्री-पुरुष की भेद वुद्धि है।

शुकदेव और श्रीरामकृष्ण

इस भेदबुद्धिहीनता के दृष्टान्त हैं–आजन्म संन्यासी, सर्वत्यागी शुकदेव। वे मातृगर्भ से निकल कर माया के राज्य में पदार्पण करना नहीं चाहते थे। भगवान को एक क्षण के लिए माया खींच लेनी पड़ी, तब भूमि पर पड़ते ही उन्होंने चलना आरम्भ किया। ममत्व-बुद्धि-सम्पन्न पिता अपने ममत्वहीन पुत्र को संसार में लाने के लिए उनके पीछे-पीछे भाग रहे हैं। रास्ते में नग्न होकर नहाती हुई अप्सराएँ युवक शुकदेव को देखकर लज्जित नहीं हुई, परन्तु वृद्ध व्यासदेव को देखकर वे अपना शरीर ढँक कर संकुचित भाव से खड़ी हो गयीं। विस्मित व्यास-देव द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर वे बोलीं – ज्ञानी और वृद्ध होकर भी आप में स्त्री-पुरुष का भेद-ज्ञान है। शुकदेव भेदज्ञानरहित हैं, इसलिए उन्हें देखकर लज्जा नहीं हुई।

पौराणिक कथाओं के अन्तराल में निहित तत्वों के एक आधुनिकतम दृष्टान्त हैं स्वयं श्रीरामकृष्ण। उनके स्त्री भक्तों ने कहा था – उन्हें देखकर कभी भी ऐसा नहीं लगा कि ये पुरुष हैं। जैसे पुरुष-भक्त ठाकुर को अपने में से एक अनुभव करते, भक्त महिलाएँ भी उसी तरह अनुभव करती थीं। पूर्ण-रूप से देहबुद्धिरहित पाँच

वर्ष के बालक को देखकर क्या किसी को संकोच हो सकता है ?

ठाकुर इस बार कहते हैं, "कोई लोग ज्ञानलाभ के पश्चात् लोक शिक्षा के लिए कर्म करते हैं, जैसे जनक और नारद आदि।" वे लोग संसार में स्वार्थ बुद्धि से नहीं अपितु लोक शिक्षा के लिए रहे। परमानन्दरूप अमृत का आस्वादन कर केवल स्वयं ही तृप्त नहीं हुए, अपितु जगत को भी उसका अंश देने के लिए उन्होंने आध्यात्मिक ऐश्वर्य तथा ज्ञान का भण्डार खोल दिया था।

○

मानस रोग (१६।२)

पं रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'श्रीरामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलिखन उनके सोलहवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय में अध्यापक हैं। –सं.

हनुमानजी और भगवान राम का जब पहली बार मिलन हुआ, तब भक्त और भगवान–दोनों ने एक दूसरे की बड़ी मीठी चुटकी ली लेकिन वहाँ पर दृष्टि की एक विशेषता है। हनुमानजी ने किसी वर्ण में जन्म नहीं लिया। वे चाहते तो अयोध्या में जन्म ले सकते थे, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र–जिस वर्ण में चाहते उसी में जन्म ले सकते थे। परन्तु हनुमानजी ने अपने आपको किसी सीमा में आबद्ध नहीं किया। उनमें कोई अभिमान नहीं है। जब कोई व्यक्ति अभिमान पाल लेता है, तब वह एक सीमा बना लेता है। ब्राह्मणत्व का अभिमान होने पर वह अपने कर्म की एक सीमा बना लेता है, तब क्षत्रिय वैश्य अथवा शूद्र का कर्म करने में वह कुण्ठित हो जाता है। इसी तरह क्षत्रिय या वैश्य भी सीमाबद्ध हो जाता है। हनुमानजी ने सोचा कि प्रभु की सेवा तो किसी सीमा में रहकर नहीं की जा सकती। किसी वर्ण में जन्म लेने पर तो उस वर्ण के अनुरूप ही सेवा कर पाऊँगा तथा सम्भव है अन्य वर्ण के अनुरूप सेवा लेने में प्रभु भी संकोच करें। इसलिए ऐसा शरीर बना लें, जो आवश्यकतानुसार सभी वर्णों का कर्म कर सके और सचमुच हनुमानजी जब जैसी आवश्यकता होती वैसे ही

बन जाते। जब ब्राह्मण बनना चाहते ब्राह्मण बन जाते, जब क्षत्रिय बनना चाहते क्षत्रिय बन जाते। जब सुग्रीव ने उनसे कहा कि ब्राह्मण बनकर जाइए तो ब्राह्मण बनकर गए। पर वहाँ पर पहला कार्य उन्होंने क्या किया—

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ।
माथ नाइ पूछत अस भयऊ ।।४/१/६

हनुमानजी ब्राह्मण के रूप में वहाँ गए और मस्तक नवाकर सबसे पहले भगवान राम को प्रणाम किया। भगवान को तो हँसी आ गई और बाद में उन्होंने हनुमानजी से व्यंग्य भी किया कि तुमने नाटक तो किया पर तुम्हारा अभिनय सफल नहीं रहा। क्यों? जब आप ब्राह्मण बनकर आए तो आपको प्रणाम नहीं करना चाहिए था। क्षत्रिय आपको प्रणाम करता और इसके लिए आपको प्रतीक्षा करनी चाहिए थी। पर जब आप स्वयं प्रणाम करने लगे तो मैं समझ गया कि आप नकली ब्राह्मण हैं। हनुमानजी ने कहा— नहीं महाराज, असली ब्राह्मणत्व तो उसी समय था। सारा ब्राह्मणत्व क्या प्रणाम न करने में ही है? शास्त्र ब्राह्मण की परिभाषा क्या मानता है? प्रभु बोले, शास्त्र तो कहता है कि—

"ब्रह्म जानाति ब्राह्मण:"

—जो ब्रह्म को जाने वह ब्राह्मण है। हनुमानजी ने कहा— प्रभो, मैंने तो आपको ब्रह्म जानकर ही प्रणाम किया। मैं ही असली ब्राह्मण हूँ क्योंकि मैंने आपको पहचान लिया था। ऐसी स्थिति में आप यह कैसे कह रहे हैं कि मेरा अभिनय सफल नहीं रहा। प्रभु ने कहा—पहचान लिया यह तो ठीक है पर रंगमंच की एक मर्यादा भी होती

है, वहाँ तो मैं क्षत्रिय और तुम ब्राह्मण थे । हनुमानजी ने मुस्कराकर कहा– प्रभो ! जब मैं ब्राह्मण बना तो सचमुच का ब्राह्मण बन गया था, नकली नहीं और मुझमें ब्राह्मत्व भी आ गया था, अत: मैं आपको क्षत्रिय नहीं, प्रभु ही देख रहा था । और जब आपको प्रणाम किया तब क्षत्रिय को नहीं, प्रभु को प्रणाम किया । यदि क्षत्रिय जानकर प्रणाम किया होता तो अवश्य ही मेरा अभिनय असफल होता । मैंने आपको क्षत्रिय वेश में देखा तो आपसे पहले ही पूछ लिया–

को तुम्ह श्यामल गौर सरीरा

–साँवले तथा गौर वर्ण के आप दोनों वीर कौन हैं ? और अगला वाक्य बड़ा सुन्दर है । प्रभु ने कहा– तुम तो देख रहे हो कि हमारे हाथ में धनुष-बाण है, फिर भी पूछ रहे हो कि हम कौन हैं। हनुमानजी बोले– महाराज देख तो रहा हूँ पर आप–

छत्री रूप फिरहु बनबीरा ।।४/१/७

–क्षत्रिय का वेश बनाकर वन में घूम रहे हैं। हनुमानजी का अभिप्राय यह है कि जैसे मैं वेशधारी नकली ब्राह्मण हूँ, उसी तरह आप भी क्षत्रिय का वेश बनाए हुए नकली क्षत्रिय हैं । क्या ब्रह्म की भी कोई जाति होती है ? वह किसी भी सीमा में आबद्ध नहीं है। वह तो अपने आपको चाहे जिस जाति, वर्ण, यहाँ तक कि पशु-पक्षी के रूप में भी व्यक्त कर देता है । हनुमानजी ने तो उसी ब्रह्म को क्षत्रिय वेश में देखकर प्रणाम किया । जिनकी ऐसी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि है, उनके लिए भगवान शंकर कहते हैं–

उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत
केहि सन करहीं विरोध ॥७।११२ (ख)

–"हे उमा । जो श्रीराम के चरणों के प्रेमी हैं और काम, अभिमान तथा क्रोध से रहित हैं, वे जगत् को अपने प्रभु से परिपूर्ण देखते हैं, फिर वे किससे बैर करें ?" पर जिस व्यक्ति ने अपने आपको किसी सीमा में बाँध लिया है, उसके जीवन में तो टकराहट की समस्या आएगी ही । परशुरामजी के जीवन में यह समस्या थी । कहाँ तो एक ओर वे साक्षात् ईश्वर के अंश आवेशावतार हैं और कहाँ उन्होंने अपने आपको एक सीमा में बाँध लिया । और वह सीमा भी उनकी अपनी ही बनाई हुई है । क्षत्रिय जाति ने अन्याय किया और उन्होंने दण्ड दिया । वे कह सकते थे कि मैं क्षत्रिय जाति का कल्याण करनेवाला हूँ, मैं उन्हें सही रास्ते पर ले जाने वाला हूँ । परन्तु उन्होंने ब्राह्मण के रूप में एक तीव्र संस्कार पाल लिया और भगवान राम को भी अपना परिचय देने लगे कि मैं कोई साधारण ब्राह्मण नहीं –

बाल ब्रह्मचारी अति कोही ।
विश्व विदित क्षत्रिय कुल द्रोही ॥१।२७२।१

–मैं बालब्रह्मचारी हूँ और अति क्रोधी हूँ । इतना ही नहीं यह भी अच्छी तरह से समझ लो कि मैं क्षत्रिय कुल का विश्वविख्यात शत्रु हूँ, उसे मिटा देने वाला हूँ और तुम दोनों क्षत्रिय हो । अब अगर भगवान राम भी परशुराम की तरह अपने आपको किसी जाति की सीमा में बाँध लें और यह कहें कि अगर आप ब्राह्मण हैं तो मैं भी क्षत्रिय

हूँ, चलिए हो जाए हमारा युद्ध । और ऐसा युद्ध इतिहास में कई बार हुआ भी है । हर युग में हर प्रकार के व्यक्ति उत्पन्न होते हैं । ऐसी बात नहीं कि जातियतावादी वृत्ति एक युग में रहती हो और दूसरे में नहीं । हाँ, किसी युग में वह अधिक हो जाती है और किसी में कम । इसी जातियतावादी मनोवृत्ति के कारण ही भीष्म व परशुराम के बीच भी एकबार टकराहट हुई थी ।

वैसे तो भीष्म परशुरामजी के ही शिष्य थे पर किसी एक बात पर दोनों के बीच ठन गई थी । और जिस कारण ऐसा हुआ उसमें भीष्म का पक्ष दुर्बल और परशुरामजी का न्यायपूर्ण था । भीष्म काशीराज की स्वयंवर-सभा से उनकी तीन कन्याओं का अपहरण कर ले आए थे । उन्होंने इन कन्याओं का अपहरण किया था केवल अपने शौर्य के प्रदर्शन के लिए, क्योंकि उन्होंने तो आजीवन विवाह न करने की प्रतिज्ञा की थी । लेकिन ऐसी प्रतिज्ञा करने के बाद भी जब वे स्वयंवर सभा में पहुँचे तो, राजाओं ने उनको व्यंग भरी दृष्टि से देखा कि इनका यहाँ क्या काम ? क्या अब इनका विचार बदल गया है और ये विवाह करने आए हैं ? फिर किसी राजा ने कटाक्ष भी कर दिया– अरे विवाह न करने की इनकी प्रतिज्ञा कोई त्याग की वृत्ति थोड़े ही है, वह तो इनकी असमर्थता का परिचायक है । बस इतना सुनते ही भीष्म को रोष आ गया कि ये लोग मुझे क्या समझते हैं ? तीव्र आक्रोश में उन्होंने राजाओं से कह दिया– मैं तीनों कन्याओं का अपहरण कर रहा हूँ, जिसमें सामर्थ्य हो मेरा सामना करे । किसी राजा में इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि भीष्म का सामना कर पाता । भीष्म तीनों कन्याओं का अपहरण

करके ले आए। पर उन्हें विवाह तो करना नहीं था, इसलिए दो कन्याओं का विवाह तो उन्होंने अपने दो भाइयों से कर दिया, पर तीसरी कन्या ने हठ किया कि आपने मेरा हरण किया है सो आपको ही मुझसे विवाह करना होगा। भीष्म ने कहा कि यह तो असम्भव है, मैं तो पिता के समक्ष प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, विवाह नहीं करूँगा। कन्या ने कहा– यदि आपका ऐसा ही संकल्प था तो फिर आपको मेरा जीवन नष्ट करने का क्या अधिकार था ? भीष्म ने कहा जो चाहो कह लो, पर अब तो मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता। तो वह कन्या परशुराम के पास गई और बोली–भीष्म आपके शिष्य हैं। आप अपने शिष्य से कहें कि वे मुझे स्वीकार करें, मेरा जीवन बरबाद न करें। परशुरामजी आये और उन्होंने भीष्म को आदेश दिया कि तुम इससे विवाह करो। लेकिन भीष्म ने कहा– नहीं कर सकता, मेरे लिए यह असम्भव है। परशुरामजी को क्रोध आ गया। वे बोले– मैं तुम्हें दण्ड दूंगा। तब गुरु और शिष्य में ठन गई, शस्त्र निकल गये, धनुष पर बाण चढ़ गये। कथा है कि अट्ठाईस दिन तक दोनों लड़ते रहे और उनके अस्त्र-शस्त्रों के आघात प्रत्याघात से संसार जलने लगा। तब देवता और मुनि उन्हें मनाने आये कि आप लोग अपने अपने शस्त्र वापस ले लें। लेकिन भीष्म ने उस समय भी यही कहा कि मैं अपना शस्त्र पहले वापस नहीं लूंगा, परशुरामजी को ही पहले अपना शस्त्र वापस लेना होगा। भीष्म के मन में यह संस्कार बैठा हुआ था कि मैं क्षत्रिय हूँ, ऐसा कैसे कर सकता हूँ ? परिणाम यह हुआ कि देवता और मुनियों ने परशुरामजी को ही मनाया कि आप ही कृपया

अपने शस्त्र वापस ले लें। परशुरामजी ने अपने शस्त्र वापस ले तो लिए परन्तु उनके मन पर इसकी प्रतिक्रिया कुछ अच्छी नहीं हुई, क्योंकि इसके बाद ही उन्होंने संकल्प कर लिया कि भविष्य में वे कभी किसी क्षत्रिय को शिष्य नहीं बनाएँगे। इसलिए बेचारे कर्ण को झूठ बोलकर उनसे शस्त्र-विद्या सीखनी पड़ी। यहाँ पर भी यही दिखाई देता है कि दो व्यक्तियों की टकराहट में जात्याभिमान प्रकट हो गया और विद्वेष की सृष्टि हुई।

अब भगवान राम के जीवन में क्या दिखाई देता है ? वहाँ न तो जाति की सीमा है और न संकीर्णता। वहाँ तो परिपूर्णता है। सांसारिक व्यवहार की दृष्टि से भगवान राम ने क्षत्रिय जाति में जन्म लिया था। परशुरामजी ने अब तक कई बार क्षत्रिय जाति को दण्डित किया है। भगवान राम कह सकते थे कि क्षत्रिय के रूप में मैं इसका बदला लूंगा। मैं भी आपक। दण्ड दूंगा। लेकिन यदि ऐसा होता तो फिर से एक अहं की दूसरे से टकराहट हो जाती। पर भगवान राम न तो जाति की सीमा में आबद्ध थे और न अहं की। उन्होंने परशुरामजी से पूछ लिया—आप क्या चाहते हैं ? परशुरामजी ने कहा—तुम मुझसे युद्ध करो।—क्यों, महाराज युद्ध से क्या होगा ? यही न कि जो सबल होगा वह जीतेगा और दूसरा हारेगा। भगवान राम ने पूछा—तो आप युद्ध में विजय ही तो चाहते हैं। पर इसके लिए युद्ध की क्या आवश्यकता——

सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे।
छमहु बिप्र अपराध हमारे।।१।२८२।८

हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा।
कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा।।

राम मात्र लघु नाम हमारा ।
परसु सहित बड़ नाम तोहारा ।।
देव एकु गुनु धनुष हमारें ।
नव गुन परम पुनीत तुम्हारे ।।१।२८२।५-७

"हे विप्र, हम तो सब प्रकार से आपसे हारे हुए हैं, आप हमारे अपराधों को क्षमा करें। हे नाथ, हमारी और आपकी बराबरी कैसी ? भला कहाँ आपके चरण और कहाँ मेरा मस्तक ? कहाँ तो मेरा छोटा सा 'राम' मात्र नाम और कहाँ आपका परशु सहित बड़ा नाम ? हे देव ! हमारे धनुष में तो बस एक ही डोरी है और आपके परम पवित्र धनुष में नौ डोरियाँ हैं ।" भगवान श्री राघवेन्द्र ने अपने आपको न तो किसी जाति की और न ही किसी वर्ण की सीमा में बाँधा । बड़ी अनोखी बात है बड़ा बनने की चेष्टा करने वाला छोटा बन गया और छोटा बनने वाला बड़ा । परशुराम कहते हैं–मैं बड़ा हूँ और राम कहते हैं–मैं छोटा हूं । लेकिन बात उलट गई । बाद में परशुरामजी हाथ जोड़कर श्रीराम की स्तुति करने लगे । उनका वर्णाभिमान मिटा होगा, तभी तो उन्होंने स्तुति की होगी । जाति-वर्ण की सीमा टूट गई । पूर्ण के सामने अपूर्णता दूर हो गयी । गोस्वामीजी कहते हैं––

जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात ।
जोरि पानि बोले बचन हृदय न प्रेम अमात ।।१।२८४

––"तब उन्हें राम का प्रभाव ज्ञात हुआ, प्रेम मानो हृदय में अँट नहीं रहा था और पुलकित शरीर से हाथ जोड़कर बोले । तब परशुरामजी के मुख से पहला शब्द क्या निकला ? जय रघुवंश ! सुननेवाले तो चौंक पड़े ? सर्वदा भृगुवंश की जय बोलने वाले आज रघुवंश की जय कैसे

बोलने लगे ? परशुरामजी ने कहा—अब मैं समझ गया हूँ । पहले मैं समझता था कि मेरी विजय में—भृगुवंश की विजय में—ब्राह्मण की विजय में क्षत्रिय जाति की हार है । पर राम की विजय में सबकी विजय है, पराजय किसी की नहीं, यही उसकी विशेषता है । यह बड़े महत्त्व की बात है । जिस जीत में किसी की हार होगी । उसमें जीतने वाले को अहंकार होगा और हारने वाला बदला लेने की तैयारी करेगा । लेकिन जिनकी जीत में सबकी जीत है, उनके लिए परशुरामजी ने नौ बार जय जय कहकर स्तुति की—

जय रघुबंश बनज बन भानू ।
जय सुर बिप्र धेनु हितकारी ।
जय मद मोह कोह भ्रम हारी ।
जयति बचन रचना अति नागर ।
जय शरीर छबि कोटि अनंगा ।
जब महेस मन मानस हंसा ।
कहि जय, जय, जय रघुकुल केतू ।
भृगुपति गए बनहि तप हेतू ।।१।२८५।१-७

आरम्भ किया जय से और अन्त भी किया जय से । इस तरह उन्होंने नौ बार जय शब्द का प्रयोग किया । अभिप्राय यह है कि भगवान राम ने परशुरामजी से कहा कि मैं तो आपसे हर प्रकार से छोटा हूँ । मुझ में तो केवल एक गुण है और आप में तो ब्राह्मण होने के नाते—

नव गुन परम पुनीत तुम्हारे । १।२८२।७

—आप में तो नौ गुण विद्यमान है । इसलिए परशुरामजी ने नौ बार जय शब्द का प्रयोग करके कहा—हे राम ! ये नौ गुण मैं आपको ही अर्पित करता हूँ । अब मैंने समझ

लिया कि इनका कोई महत्त्व नहीं और न अब इनकी कोई आवश्यकता ही है। इस तरह परशुरामजी ने अहं के द्वारा अपने व्यक्तित्त्व को जो ससीम बना लिया था, वह अब असीम में मिलकर एकाकार हो गया। उन्हें पराजय की अनुभूति क्यों नहीं हुई? हम स्वयं से थोड़े ही हारते हैं। जब कोई दूसरा हमें हरा देता है तब हमें हार की अनुभूति होती है। एक बड़ा प्रसिद्ध वाक्य है—"अन्यत्रं जयमिच्छेत पुत्रादिच्छेत्पराजयम्"—दूसरों से जीतने की इच्छा रखे, पर अपने पुत्र से हार जाय तो बड़ी प्रसन्नता होती है। पुत्र अगर पिता की अपेक्षा अधिक पढ़ ले, अधिक ज्ञान प्राप्त कर ले, तो पिता को बड़ा सन्तोष होता है। क्यों होता है? अपनत्व के कारण। परायेपन की अनुभूति रही, तो वहाँ भी हार का बोध होगा और विद्वेष उत्पन्न होगा। परशुरामजी का व्यक्तित्व जिस अहं से उबर नहीं पा रहा था, उससे भगवान राम ने उन्हें उबारा। और ममता? वह भी उसी अहं से जुड़ी हुई थी, जिससे उबारा लक्ष्मणजी ने।

परशुरामजी क्रोध में भरे हुए हैं। लक्ष्मणजी सामने आते हैं। और ऐसा बढ़िया निदान करते हैं कि रोग सीधे पकड़ में आ जाता है। इस बात पर न जायँ कि कौन किस जाति का है। यह भी न देखें कि किसकी अवस्था कितनी है, कौन छोटा है और कौन बड़ा। कई लोग तो यह कहने लगते हैं कि लक्ष्मणजी इतनी छोटी अवस्था के थे और परशुरामजी इतने वयोवृद्ध, लक्ष्मणजी को उनसे ऐसा नहीं बोलना चाहिए था। यहाँ पर अवस्था की दृष्टि से नहीं विचार की दृष्टि से देखिए। लक्ष्मणजी ने परशुरामजी की अपेक्षा अधिक परिपक्वता का परिचय दिया है। उन्होंने

कहा—आपकी समस्या यहाँ है और उसका समाधान आप कहीं और ढूँढ रहे हैं। परशुरामजी क्रोध में भरे हुए हैं। लक्ष्मणजी पूछते हैं—आपको क्रोध क्यों आ रहा है? तब वे कहते हैं—मेरे गुरुदेव का धनुष टूट गया, इसका मुझे बड़ा दु:ख है। लक्ष्मणजी ने कहा—नहीं महाराज, आपके दु:ख का कारण यह नहीं है। क्यों? क्योंकि विश्व के इतिहास में क्या यह पहली बार धनुष टूटा है? बचपन में जब हम श्रीराघवेन्द्र सहित चारों भाई खेला करते थे, तो रोज कोई न कोई धनुष तोड़ते ही रहते थे, पर आप तो कभी यह कहने नहीं आये कि धनुष क्यों तोड़ा? वह भी तो धनुष ही था। उसका टूटना क्या टूटना नहीं था? यह जीवन का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण सत्य है। हम मृत्यु पर दु:खी होते हैं। पर मृत्यु तो सारे संसार में हर समय किसी न किसी की होती ही रहती है। पर क्या हम प्रत्यक व्यक्ति की मृत्यु पर दुखी होते हैं? अगर होते भी हैं तो केवल व्यवहार की दृष्टि से दिखावे भर के लिए ही। लक्ष्मणजी यह स्पष्ट कर देते हैं कि वस्तुत: परशुरामजी को दुख धनुष टूटने का नहीं था। उन्होंने कह दिया—

> बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं।
> कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं॥
> एहि धनु पर ममता केहि हेतू। १।२७१।७-८

—"बचपन में तो हमने कितने ही धनुष तोड़े, पर कभी आपको ऐसा क्रोध नहीं आया। इस धनुष के प्रति आपकी ममता का क्या कारण है?" उनका अभिप्राय यह था—महाराज, वस्तुत: आपको दु:ख यह धनुष नहीं, आपकी ममता दे रही है। लक्ष्मणजी के एक-एक शब्द बड़े सार्थक हैं। एहि, धनु, ममता, केहि हेतू—इन चार शब्दों की

अर्थ-गरिमा पर विचार करें। लक्ष्मणजी कहते हैं — महाराज! पहली बात तो यह है कि ज्ञान की दृष्टि से तो आप में ममता होनी ही नहीं चाहिए। और अगर यह मान भी लिया जाय कि व्यवहार की दृष्टि से कुछ न कुछ ममता तो रखनी ही पड़ती है, तो वह अधिकार भी आपको नहीं है। क्योंकि न तो आपने विवाह किया, न गृहस्थ हुए और न सत्ता ही स्वीकार की। आप तो बाल-ब्रह्मचारी, सर्वत्यागी महात्मा हैं। जिस व्यक्ति के जीवन में इतना त्याग हो उनमें ममता का न होना ही स्वाभाविक लगता है और आपके चरित्र के लिए भी यह अनुकूल होता। लेकिन यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इतना त्याग करने के बाद भी आपने अपने जीवन में ममता को रहने दिया। फिर वे व्यंग करते हुए बोले—और आपने ममता रखी भी तो किस पर? 'एहि धनु पर' इस धनुष पर? तो ममता के लिए क्या यह धनुष ही बचा था? आप देख ही रहे हैं कि यह टूटा हुआ पड़ा है, खण्डित है अर्थात् यह परिणामी, ससीम और अनित्य है। एक तो ममता होनी ही नहीं चाहिए थी और यदि आपको ममता जोड़नी ही थी तो आपके सामने खण्ड और अखण्ड दोनों थे। एक ओर तो खण्डित धनुष पड़ी है—

प्रभु दोउ चापखण्ड महि डारे ।। १/२६२/१

और दूसरी ओर अखंड ज्ञानधन श्रीराम खड़े हैं—

ग्यान अखंड एक सीताबर ।। ७/७८/२

लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह था कि ममता करनी ही थी तो किस पर की जाय इसका विवेकपूर्ण चुनाव तो कर लेना था।

गोस्वामीजी दोहावली रामायण में कहते हैं कि एक तो जहाँ ममता हो वहाँ से मन को हटा लेना चाहिए और ऐसा न हो सके तो क्या उपाय है—

कै करु ममता राम सों कै ममता परहेलु ।। ७९

—या तो ममता राम पर करो या ममता का त्याग करो। तात्पर्य यह है कि ममता अगर ससीम पर होगी तो उसके खण्डित होने पर वह दुख देगी। भले ही वह प्रारम्भ में सुख दे, पर बाद में दुख दिए बिना नहीं रहेगी । लेकिन यदि हमारी ममता का केन्द्र नित्य होगा, अखण्ड होगा, तो वह हमारे जीवन में केवल सुख की सृष्टि करेगी, दुख की कभी नहीं । इसलिए श्री लक्ष्मण परशुरामजी से कहते हैं—'एहि धनु'—उनका यह शब्द बड़े महत्त्व का है । कहते हैं—महाराज, यह धनुष तो आप देख ही रहे हैं, टूटा हुआ पड़ा है । इसका अर्थ तो यही हुआ कि आपने अपने मन में यह मान लिया था कि यह धनुष कभी नहीं टूटेगा, कभी नहीं मिटेगा । यह आपकी भ्रान्ति थी । कोई वस्तु बहुत दिनों तक टिकती है तो कोई जल्दी नष्ट हो जाती है । यह धनुष बहुत दिनों तक टिका तो लोगों को भ्रम हो गया कि अब यह कभी विनष्ट नहीं होगा । पर यह काल तो सत्य है । और लक्ष्मणजी कौन हैं ? ये तो स्वयं काल हैं और वैराग्य ही इनकी भूमिका है । एक ओर—

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर ।
भगति ग्यानु वैराग्य जनु सोहत धरे सरीर ।। २/३२१

—"भाई लक्ष्मण और श्री सीताजी सहित प्रभु श्री राम पर्णकुटी में ऐसे सुशोभित हो रहे हैं, मानो वैराग्य, भक्ति और ज्ञान शरीर धारण करके सुशोभित हो रहे हों ।"और

दूसरी ओर वे शेषजी के रूप में,भगवान की शैय्या के रूप में काल के प्रतीक हैं। काल के सत्य पर दृष्टि जाते ही वैराग्य का उदय होता है और वैराग्य से ही ममता की निवृत्ति होती है। इस प्रकार भगवान राम ने अखण्ड-ज्ञान के रूप में परशुरामजी को अहंता से निवृत्त किया और कालरूप लक्ष्मणजी ने वैराग्य की भूमिका द्वारा उन्हें ममता से मुक्त होने की प्रेरणा दी। काल के सत्य को दिखला दिया। उनकी भ्रान्ति दूर कर दी और साथ ही व्यंग्य करते हुए पूछ लिया—"एहि धनु"—यह धनुप किसका है? भगवान शंकर का। उन्होंने यह धनुष किसे दिया था ? जनकजी को। तो लक्ष्मणजी ने पूछा—महाराज। धनुष तो शंकरजी का है। उसके टूटने पर क्रोध तो उनको आना चाहिए था। उन्होंने धनुष जनकजी को दिया था, तो क्रोध जनकजी को आना चाहिए था। पर आप जरा जाकर शंकरजी को देखिए, वे तो प्रसन्नता से नाच रहे हैं। जनकजी का मुखमण्डल भी आनन्द से उत्फुल्ल है। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि जिस धनुष से आपको कुछ भी लेना-देना नहीं, न तो वह आपका है, न आपको दिया गया है और न ही आपसे उसका कोई सम्बन्ध है; उससे आपने ममता क्यों जोड़ ली ? अपने को उसमें जोड़ते समय आपको यह भी तो देखना था कि क्या इसके पीछे कोई युक्तिसंगत हेतु है ? क्या उसमें आपका कोई साझा है ? इसमें शंकरजी और जनकजी का साझा तो हो सकता है, पर आपका क्या है? किसी ने शंकरजी को बताया कि आपका धनुष टूट गया। शंकरजी ने मुस्कराकर कहा कि मेरा धनुष कहाँ, उसे तो मैंने जनक को दे दिया था। टूटा तो जनक का धनष टूटा, मेरा क्या ? और जब

जनकजी से कहा गया—महाराज धनुष टूट गया! तो वे बोले—इसी के लिए तो मैंने स्वयं प्रार्थना की थी।

ऐसी प्रार्थना करनेवाले तो संसार में अगणित लोग हैं, जो अपने अभिमान की रक्षा के लिए भगवान से प्रार्थना करते हैं। पर सच्चे ज्ञानी तो जनक ही थे जो प्रार्थना करके अभिमान को तुड़वाना चाहते थे। जो अपने अभिमान को तोड़ने के लिए प्रभु से प्रार्थना कर सके, वही तो धन्य है। लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह था कि भगवान शंकर और तत्त्वज्ञ जनक ने जिससे ममता हटा ली थी, उसी से परशुरामजी ने जोड़ ली।

भगवान श्री राम और लक्ष्मणजी से परशुरामजी का यह संवाद अहंता और ममता से त्याग का प्रसंग है। सच-मुच परशुरामजी ने अपनी अहंता और ममता का त्याग करके दिखाया। उन्होंने भगवान राम और लक्ष्मण को अर्थात् ज्ञान और वैराग्य को पहचान लिया और अपने जीवन में उसे स्वीकार किया। ज्ञान और वैराग्य के प्रति-ष्ठित होते ही उनकी अहंता और ममता दूर हो गई और आगे चलकर उन्होंने ममता को यहाँ तक त्याग दिया कि टूटे हुए धनुष से ममता की तो बात ही क्या—अपने कन्धे पर जो भगवान विष्णु का धनुष था, उससे भी उन्होंने अपनी ममता हटा ली और उसे उतारकर भगवान राम से कहते हैं—उसे तो आपने खण्डित कर ही दिया, अब इसे भी खींच लीजिए—

राम रमापति कर धनु लेहू।
खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥
देत चापु आपुहिं चलि गयऊ।
परसुराम मन बिसमय भयऊ॥ १/२८३/७-८

जाना राम प्रभाव तब
पुलक प्रफुल्लित गात । १।२८४।

अहंता और ममता दोनों के विनष्ट हो जाने पर परशुरामजी सुखी और सन्तुष्ट हो गये । पराजय की वृत्ति का निवारण हो गया । इसका सीधा सा तात्पर्य यह है कि हमारे जीवन के सुख और दुख दोनों का सम्बन्ध ममता से है । जब हम किसी वस्तु से या व्यक्ति से अपनी ममता जोड़ लेते हैं और प्रायः अनित्य पदार्थों से, तो हमें जीवन में कभी न कभी दुखी होना ही पड़ता है । इस तरह गोस्वामीजी ने अहंता और ममता के सन्दर्भ में एक पक्ष यहाँ प्रस्तुत किया । दूसरा पक्ष वे हनुमानजी और रावण के संवाद के प्रसंग में दिखायेंगे ।

सृष्टि

स्वामी विवेकानन्द

(बँगला कविता का स्वामी आत्मानन्दकृत
हिन्दी पद्यानुवाद)

एक रूप विछा हुआ है,
रूप नाम न वर्ण का ही
भास होता है जहाँ पर,
भूत-काल-भविष्य के औ,
देश के भी पार जो है,
परे सबके, शान्ति जिसमें
'नेति' 'नेति' विचार की भी ।।

बह रही सरिता वहाँ से
कार्य - कारण - शृंखला की
रूप ले ज्वल वासना का,
वारि जिसका गरज उठता
सर्वदा ही 'अहं' 'मैं, 'मैं' ।।

वासना निःशेष के उस
जलधि में हैं दीख पड़ती
शुभ्र अनगिनती तरंगें,
रूप कितने, शक्ति उनमें
गति-स्थिति में भेद कितने,
कौन गणना कर सकेगा ?

कोटि शशि औ, कोटि सूरज
जन्म लेते, डूब जाते
उसी सागर में निरन्तर,
महाघोर प्रचण्ड रव से
छा गया विस्तृत गगन है,
ज्योति से दस दिशाओं को
प्रकाशित जाज्वल्य करते ।।

वास उसमें ही अनन्तों
जीव जड़ सब प्राणियों का,
दु:ख सुख जीवन जरा औ'
मृत्यु इसमें वास करते,
सूर्य वह है, किरण उसकी,
सूर्य जो है किरण वह ही ।।

卐

जीवन में साधना की आवश्यकता

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत लेख रामकृष्ण संघ के आंग्ल मासिक 'वेदान्त केसरी' के दिसम्बर '८० अक से गृहीत एवं अनुदित हुआ है। अनुवादक हैं प्रो. सुरेश कुमार मिश्र। –स.)

आत्मा के प्रति वेदान्ती दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था––"प्रत्येक मनुष्य एक पूर्ण प्राणी है।" किन्तु, उलटे हर मनुष्य महसूस करता है कि वह अपूर्ण है और इसी से असंतुष्ट भी। तथापि, इस पूर्णता को प्राप्त करने की उसमें एक अदम्य लालसा होती है और जब तक पूर्ण बनने की उसकी यह लालसा सही अर्थ में संतुष्ट नहीं होती, वह कभी भी शांतिपूर्वक नहीं रह सकता। और जैसा कि गीता कहती है–– "शांति के बिना सुख आ ही नहीं सकता।"

वस्तुतः, मानव पूर्ण है। इस कारण अपूर्णता का अनुभव मानव में कुछ सीमा तक बाहरी है। जब तक व्यक्ति इस बाहरी वस्तु के साथ स्वयं को संयुक्त मानता है, वह अपूर्णता की अनुभूति से छुटकारा पा ही नहीं सकता। चाहे वह कितनी भी चेष्टा क्यों न करे. और इसी क्रम में वह असंतुष्ट और दुःखी होता रहेगा।

इस पृथ्वी पर मानव-जीवन एक सुअवसर के रूप में हमें मिला है ताकि हम अपनी अन्तर्निहित पूर्णता को महसूस कर सकें तथा मुक्त हो सकें। स्वतंत्रता अथवा मुक्ति मानव-जीवन का एक सर्वोच्च लक्ष्य है। इस सर्वोच्च लक्ष्य की तरफ बढ़ने का प्रथम कदम यह जानना है कि पूर्णता पहले से ही हमारे भीतर है। किसी तरह हमने अपनी मूल प्रकृति को भुला दिया है तथा अपूर्णता के साथ अपनी पहचान बना ली है।

कारण

हिन्दू गुरु हमें बताते हैं कि अज्ञान ही सारी अपूर्णताओं एवं दुःखों का मूल है। अपूर्णता एवं दुःखों के बन्धन से बाहर निकलने का एकमात्र रास्ता है---ज्ञान प्राप्त करना या अज्ञानता को दूर भगाना। चूँकि ज्ञान वस्तुतः हमारे जीवन की वास्तविक प्रकृति है, हमें उसे कहीं बाहर मे नहीं प्राप्त करना है, जैसे हम बाहर से कुछ वह प्राप्त करते हैं जो हमारे पास पहले से नहीं था। प्रकाश तो हमारे भीतर है,---सदा चमकता हुआ। कुछ अपारदर्शी वस्तुओं ने इसे आवृत कर डाला है। हमें सिर्फ इन वस्तुओं को हटा देना है। तब प्रकाश अपनी पूरी शक्ति से चमक उठेगा।

साधना क्या है

हमारे दिव्य स्वभाव की प्रत्यक्ष अनुभूति इस जन्म और इसके बाद के जन्म की समस्याओं का समाधान कर देती है। यह अनुभव सर्वप्रथम कुछ अत्यावश्यक शर्तों के रूप में कुछ विशिष्ट प्रकार के अनुशासनों का समर्थन करता है। इन्हीं अनुशासनों को साधना कहते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि दिव्य अनुभूति के लिए ये केवल शर्तें हैं, न कि ये स्वयं अनुभव हैं। न ही यही कहा जा सकता है कि ये अनुशासन शीघ्र दिव्य अनुभूति की तरफ सीधे अग्रसर करा देते हैं। ये हमें दिव्य अनुभूति के लिए तैयार करते हैं, लेकिन स्वयं अनुभव ईश्वरीय कृपा से ही प्राप्त होता है।

यदि दिव्य अनुभूति मात्र ईश्वरीय कृपा से ही आती है तथा अन्य किसी भाँति नहीं, तो क्या इन अनुशासनों

की हम उपेक्षा नहीं कर सकते ? नियमत: "नहीं।" क्योंकि बिना किसी प्रारम्भिक योग्यता के दिव्य अनुभूति की प्राप्ति एक अपवाद है, और 'अपवाद' 'अपवाद' है, इसे सामान्य नियम का रूप नहीं दिया जा सकता। ये अनु-शासन---जिनके पीछे दिव्य अनुभूति आती है सभी धार्मिक एवं आध्यात्मिक गुरुओं के द्वारा स्वीकृत किये गये हैं।

साधना के कार्य

बाइबिल कहती हैं--'धन्य है पवित्र हृदयवाले, क्योंकि वे ईश्वर का दर्शन करेंगे।" (सेंट मैथ्यू : ५-८) यह ईश्वर को देखना, अपने भीतर छिपी पूर्णता का ही अनुभव करना तथा मुक्त होना है। "पवित्र हृदय वाले ईश्वर को देखेंगे।" ईश्वर को देखने की मौलिक शर्त है---हृदय की पवित्रता। किसी तरह की सच्ची आध्या-त्मिक अनुभूति हृदय के पूर्ण पवित्र हुए बिना हो ही नहीं सकती।

हृदय की अपवित्रता क्या है ? मन को दो प्रकार का कहा गया है---शुद्ध और अशुद्ध। वह मन जो सांसारिक सुखों को खोजता है-- अपवित्र है और सांसारिक वासनाओं से दूर ले जाने वाला मन पवित्र है।

सांसारिक सुखों के उपभोग की इच्छा इहलोक एवं परलोक में भी हृदय को अशुद्ध कर देती है। हिन्दू धर्म-गुरुओं ने समस्त सांसारिक ऐषणाओं को तीन रूपों में रखा है---(क) पुत्रैषणा (ख) वित्तैषका तथा (ग) लोकै-षणा ! यानी पुत्र की इच्छा, वित्त की इच्छा एवं नाम-यश या स्वर्ग--- प्राप्ति की इच्छा। हमारी सारी दैहिक इच्छाएँ पुत्रैषणा के अन्दर आती हैं। वित्तैषणा के तहत

सम्पत्ति और स्वामित्व की इच्छाएँ आती हैं तथा नाम यश, शक्ति और पद तथा मरणोपरान्त स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा—ये सब लोकैषणा के अंतर्गत आती हैं। यही इच्छाओं का त्रिकोण हृदय की अपवित्रता का कारण है।

संस्कार : प्रेरक बल

"हम इस समय जो भी हैं"—विवेकानन्द कहते हैं—"वह भूतकाल में हम जो कुछ रहे हैं या हमने सोचा था, उसी का परिणाम है। भविष्य में हम क्या होंगे, यह इसका परिणाम होगा कि हम लोग इस समय क्या करते या सोचते हैं।"

हमारे मस्तिष्क का झुकाव, उसकी रुचियाँ, आकांक्षाएँ—सब हमारे भूतकाल के विचारों एवं कर्मों के परिणाम हैं। हमने इन विचारों एवं कर्मों को भूतकाल में कई-कई बार दुहराया है। उन्होंने हमारे मनोमस्तिष्क पर गहरी छाप छोड़ी है जिन्हें संस्कार कहते हैं। यही संस्कार हमारे वर्तमान के विचारों एवं कार्यों के पीछे कार्यरत प्रबल शक्तियाँ हैं। यदि सांसारिक विचार एवं इच्छाएँ—इन्द्रिय-तुष्टि के लिए—हममें मजबूत हैं तो इसका अर्थ है कि हमने भूतकाल में उनको असंख्य बार दुहराया है। उन्होंने हमारे मस्तिष्क पर बुरे संस्कार उत्पन्न कर डाले हैं तथा इस प्रकार हमारे हृदय को दूषित कर डाला है।

शुद्धिकरण के द्विविध मार्ग

साधना का उद्देश्य है इस दूषित हृदय को शुद्ध करना। इसके दो पक्ष हैं—ऋणात्मक एवं धनात्मक।

सर्वप्रथम, हृदय को आगे पुनः दूषित होने से रोकना आवश्यक है। इस प्रकार, साधना का ऋणात्मक पक्ष बताता है कि सारे सांसारिक विचार एवं स्वार्थपूर्ण कर्म पूरे हृदय से रोक दिये जाएँ।

साधना का धनात्मक पक्ष कुछ अनुशासन प्रस्तुत करता है जो हृदय को पवित्र करते हैं।

साधना के मूल गुण

साधना 'लक्ष्य' या 'साध्य' तक पहुँचने का माध्यम है न कि स्वयं में 'लक्ष्य' या 'साध्य'। हिन्दू-दर्शन एवं धर्म के विविध मार्गों के समस्त गुरु आध्यात्मिक अनभूतियों के लिए साधना की आवश्यकता स्वीकारते हैं। वे सब साधना के कुछ आधारभूत गुणों पर एकमत है। यदि इस आधारभूत अनुशासनों का उचित रूप से एवं अति सतर्कतापूर्वक अनुसरण हो तो वे हमें ईश्वरीय कृपा की प्राप्ति के लिए सुयोग्य पात्रता प्रदान करते हैं।

अपने एक कक्षा-व्याख्यान में साधना के आधारभूत गुणों की व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था--"ये तैयारियाँ हमें पवित्र एवं प्रसन्न बनाएँगी। बंधन स्वयं गिर जाएँगे तथा हम उस इन्द्रिय-तुष्टि की सतह से ऊपर उठ जाएँगे जिससे बँधे हैं और तब हम उन तमाम चीजों को देखेंगे और सुनेंगे तथा महसूस करेंगे जिनको लोग तीन सामान्य स्थितियों (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषप्ति) में न महसूस करते, न देखते, न सुनते हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धांततः यद्यपि साधनाएँ आध्यात्मिक अनभूति की प्रत्यक्ष स्रोत नहीं हैं, तथापि आध्यात्मिक अनुभूति के लिए उनके महत्व एवं भूमिका को नगण्य नहीं कहा जा सकता।

शरीर का प्रशिक्षण

मात्र मानव-योनि में ही "आत्मतत्व" को अनुभूत किया जा सकता है तथा जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मानव-व्यक्तित्व देह मन का मिश्रित रूप है। मुक्ति के इच्छुक को अपनी देह एवं मन को प्रशिक्षित करना होगा तथा मुक्ति-प्राप्ति हेतु एक सुयोग्य यंत्र बनाना होगा।

यह उक्ति कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन निवास करना है——साधना के क्षेत्र में भी पूर्णतः लागू होती है। साधना का मूल उद्देश्य है—हृदय की शुद्धि। यह उद्देश्य तब तक सिद्ध नहीं हो सकता जब तक शरीर सहयोग नहीं करता। शरीर उस जवान और अनसाधे घोड़े की तरह है जो सदा अपने ऊपर सवारी करने वाले को लात मारना और गिरा देना चाहता है। उत्तम सवार जो अच्छे उद्देश्य से घोड़े का उपयोग करना चाहता है, धैर्य रखना है तथा धीरे-धीरे, मगर निश्चित रूप से, घोड़े को प्रशिक्षित कर लेता है। इसी प्रकार, जब हम युवा हैं, हमारा शरीर एवं हमारी इच्छाएँ मजबूत हैं, वे हमारे नियंत्रण में नहीं है। इच्छाएँ हमें खींचकर वस्तु तक पहुँचा देती हैं। साधना का प्रथम कदम है——दुर्दम शरीर एवं इन्द्रियों को रोकना एवं नियन्त्रित करना।

दम

शरीर एवं इन्द्रियों का नियंत्रण करना ही 'दम' है। यह बिना लगाम वाली बाह्य इन्द्रियों को लगाम देना और उनको आध्यात्मिक अनुभूति की तरफ मोड़ना है। यह दमन नहीं, बल्कि नियंत्रण है। दम की साधना करते समय ध्यान देना है कि अति पर न जाएँ तथा न शरीर

के साथ अत्याचार करें। शरीर को अनिवार्यतः योग्य एवं स्वस्थ रहना ही चाहिए।

शम

तदुपरांत, मन को नियंत्रित एवं प्रशिक्षित करने वाली कुछ और कठिन और लम्बे समय तक चलनेवाली साधना का स्थान है। मनोनिग्रह एक पूर्ण विकसित विज्ञान है। हिन्दू योगी तथा आध्यात्मिक गुरुओं ने कई-कई जीवन इस विज्ञान के विकास हेतु अर्पित कर दिये हैं। विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के लिए विभिन्न प्रकार के तरीकों को खोजा गया है। प्रत्येक नर-नारी ने अपनी कुछ खास मानसिक-शारीरिक बनावट प्राप्त की है। साधना शुरू करने के पूर्व इन विशिष्टताओं पर अवश्य विचार कर लेना चाहिए। व्यक्ति के उचित निरीक्षण के उपरांत ही साधना का एक अनुकूल तरीका किसी के लिए निर्धारित किया जा सकता है। पहुँचे हुए, अनुभवी गुरु ही विशेष व्यक्ति के अनुकूल विशेष प्रकार की साधना निर्धारित कर सकते हैं। लेकिन, कुछ ऐसी भी साधनाएँ हैं जो सामान्यतः प्रत्येक उच्चतर जीवन के इच्छुक व्यक्ति के लिए हैं।

मन को नियंत्रित करने की विधि का नाम है 'शम।' हमारे पूर्व के जीवन के संस्कारों के कारण मन सांसारिक सुखों की तरफ भागता है। सांसारिक सुखों को वह सदा याद करता (जिनका अनुभव उसे पहले हुआ है) तथा भविष्य के सुखों का हवाई किला बनाता रहता है। मन को इन दोनों ही स्थितियों से रोकना और उच्चतर लक्ष्य की तरफ लगाना ही 'शम' है।

साधना के सामान्य नियम

सारे हिन्दू आध्यात्मिक शिक्षक इस बिन्दु पर एक-मत हैं कि नैतिक पूर्णता सब प्रकार की पूर्णताओं की प्राप्ति हेतु साधनाओं का मूल है।

सामान्य नैतिक सिद्धांतों को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है (१) सत्य (२) अहिंसा (३) ब्रह्मचर्य (४) अस्तेय और (५) अपरिग्रह। सत्य या सच्चाई सिर्फ सच बोलना ही नहीं है, जैसा सामान्यतः समझा जाता है। साधक को विचार, वचन और कर्म—सर्वत्र सच्चा होना पड़ेगा। हमारे विचार, हमारे वचन और हमारे कर्म एक दूसरे का निश्चित रूप से अनुकरण करें।

किसी जीवित प्राणी को घायल नहीं करना अहिंसा है। धनात्मक रूप से यह सारे प्राणियों के प्रति आदर का भाव है। वस्तुतः तो किसी प्राणी के भावों को, वचन या कर्म से चोट पहुँचाना ही हिंसा है। अहिंसा की उचित साधना के लिए साधक को सिर्फ दूसरों के जीवन का ही नहीं, बल्कि दूसरों की भावनाओं का भी आदर करना चाहिए। समस्त प्राणियों के लिए निःस्वार्थ प्रेम—यह भी अहिंसा के अंतर्गत है। ब्रह्मचर्य, जिसे प्रायः यौन-आवेगों के दमन के अर्थ में ग्रहण किया जाता है—यौन-भूख के नियंत्रण तक ही सीमित नहीं है। इसके अतिरिक्त यह मस्तिष्क की समस्त संवेदनाओं एवं आवेगों का नियंत्रण तथा पूर्णता की प्राप्ति के उच्चतर लक्ष्य की तरफ उनको मोड़ना भी इसमें निहित है। अस्तेय का अर्थ है चोरी नहीं करना। कोई भी चीज जो हमारी नहीं है, उसे उसके मालिक की अनुमति के बिना लेना चोरी है। इस कार्य से बचना ही अस्तेय है। पर

नैतिक दृष्टिकोण से, अपनी आवश्यकता से ज्यादा किसी भी वस्तु को लेना---भले उसके स्वामी की सहमति ही क्यों न मिली हो---चोरी है। इस तरह, अस्तेय का अर्थ हुआ---हर प्रकार की उस वस्तु से परहेज जिसकी हमें जरूरत,नहीं है। अपरिग्रह का अर्थ है---असंचय। इसका मतलब गरीबी नहीं होता। एक भिखारी अपरिग्रह का साधक नहीं है क्योंकि यद्यपि उसने अधिक संचय नहीं किया है तो भी उसने संचय की प्रकृति को छोड़ नहीं दिया है। अपरिग्रह का अर्थ है---स्वामित्व की इच्छा का त्याग तथा शारीरिक एवं मानसिक जरूरत भर कम से कम रखना।

ये सारे नैतिक गुण वस्तुतः कोई निश्चित आकार-प्रकार की वस्तुएँ नहीं है जिनकी अलग-अलग साधना की जा सके। ये सब एक दूसरे क साथ आंतरिक रूप से गुंथे और शृंखलाबद्ध है। एक गुण की साधना अन्य साधना का मार्ग प्रशस्त करती है। इसी प्रकार, किसी एक साधना में हुई असावधानी या उपेक्षा दूसरी साधना में बाधा खड़ी कर देती है। यह देखा जा सकता है कि शम और दम---जिसके अंतर्गत ये सारे गुण आते हैं-एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसीलिए, चित्त की शुद्धि के लिए उसकी साधना एक साथ करनी चाहिए।

वस्तुतः शम और दम की यह साधना जीवन जीन का एक मार्ग है। यह संभव नहीं कि सुखद सांसारिक जीवन जिएँ एवं साथ ही जीवन की पूर्णता के लिए शम और दम की साधना भी करें। योग और भोग साथ नहीं चल सकते। 'विवेक चूड़ामणि' में आचार्य शंकर कहते हैं---"जो भी शरीर को आराम देते हुए आत्मतत्व की अनुभूति

प्राप्त करना चाहता है, वह उस व्यक्ति की तरह है जो नदी पार करने के लिए घड़ियाल की पीठ को गलती से लकड़ी का कुन्दा मानकर पकड़ लेता है।"

साधना मात्र तभी शुरू हो सकती है जब कोई व्यक्ति निश्चयपूर्वक एक महान् उद्देश्य के हेतु समर्पित होने का निर्णय कर लेता है। कोई भी महत् वस्तु जीवन के सामान्य मार्ग से चलकर प्राप्त नहीं की जा सकती है। महान् उपलब्धि महान् बलिदान खोजती है। पूर्णता प्राप्त करने के इच्छुक साधक को अपने जीवन को साधना के उस मार्ग की तरफ मोड़ना होगा जिसे विश्व के आधात्मिक गुरुओं ने निर्धारित किया है।

'भक्तियोग' संबंधी अपने उपदेश में स्वामी विवेकानन्द घोषणा करते हैं—"हर आत्मा की नियति है पूर्ण होना तथा प्रत्येक प्राणी इस स्थिति को अंततः प्राप्त करेगा।"

पूर्णता की प्राप्ति हमारे चुनाव पर निर्भर नहीं। हमें इसे प्राप्त करना होगा, यदि इस जीवन में नहीं, तो अगले हजारों जन्मों में ही कभी। प्रकृति हमें दुःख सुख के असंख्य अनुभवों से असंख्य बार गुजरने को बाध्य करेगी, तब तक, जब तक अंततः हम सचेतन न हो जाएँ और महसूस न करें कि सुख एवं दुःख के हाथों का खिलौना बनना ही हमारी नियति नहीं है। हमारी नियति है दुःख एवं सुख के ऊपर उठना और उससे पूर्णतः मुक्त हो जाना। जब इस तरह के उच्च विचारों का प्रभात हममें उतरेगा, तब हम अपने जीवन-पथ में सुधार करेंगे, जो अंततः हमें पूर्णता की प्राप्ति की ओर ले जाएगा।

लेकिन हम इतने लम्बे समय की प्रतीक्षा क्यों करें ? तथा अपना पक्ष सुधारने के पहले बारम्बार प्रकृति के घात क्यों झेलें ? जिसे हम महान् दबावों के द्वारा हजारों जन्मों के बाद भी करने को बाध्य किये जाएँगे, उस कार्य को यहीं और इसी क्षण हम स्वेच्छापूर्वक क्यों नहीं शुरू कर दें ?

अतः, यदि हम स्वेच्छया इसी क्षण अपनी साधना शुरू कर देते हैं, तो इससे एक महान अन्तर होगा। यह असंख्य दुःखों एवं सुखों के असंख्य अनुभवों से गुजरने से हमारी रक्षा करेगा। और यदि हम पूर्ण निष्ठवान् हैं तो हम स्वयं दिव्य आत्मा से निर्देश प्राप्त कर सकते हैं तथा इसी जीवन में इस संसार-सागर से पार जा सकते हैं।

●

सत्यमेव जयते–१

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

सत्य के सम्बन्ध में कौन नहीं जानता। जो पहला पाठ बालक अपनी माता की गोद में या शिष्य गुरु के आश्रम में सीखता है वह है—"सत्यं वद धर्मं चर।" प्रत्येक सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज में सत्य को इतना महत्व दिये जाने पर भी दैनन्दिन जीवन में जितना निरादर सत्य का होता है, सम्भवतः उतना और किसी नैतिक आदर्श का नहीं। इसका क्या कारण है ? इसे समझने के लिए हमें सत्य के अर्थ एवं स्वरूप की गहराई में पैठना होगा।

सत्य के विभिन्न अर्थ

सामान्यतः सत्य को सत्य बोलने के अर्थ में ही समझा जाता है। यह योग के अहिंसादि पाँच यमों में से एक है। व्यासदेव सत्य की इस प्रकार से परिभाषा करते हैं –"सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे यथादृष्टं यथानुमितं यथाश्रुतं तथा वाङ्-मनश्चेति।" अर्थात् यथाभूत अर्थयुक्त वाक्य और मन ही सत्य है। अर्थात् जो कुछ दृष्ट, अनुमित अथवा श्रुत हुआ है, उसी प्रकार का वाक्य और मन अर्थात् कथन और चिन्तन सत्य है। इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर हम पायेंगे कि सत्य के दो अंग हैं—पहला वह वस्तु, स्थिति अथवा सत्ता जिसके अनुरूप मन और वाणी हो, और दूसरा, मन और वाणी का वह आचरण जो सत्य के अनुरूप हो। सत्य का उपयोग सत् या सत्ता के अर्थ में भी होता है; और मन और वाणी से उसकी स्वीकृति भी होती है। यही एकमात्र यम है जिसका एक साध्य और साधन पक्ष, तथ्य तथा आचरणीय पक्ष दोनों हैं। एक उदाहरण से इसे समझने का प्रयत्न करें। एक मेज पर

एक घड़ी पड़ी है । मेज तथा उस पर घड़ी की अवस्थिति एक सत्य है । तथा हमारे मन द्वारा उसकी स्वीकृति, तथा वाणी द्वारा उसका प्राकट्य भी सत्य कहलाता है । सत्य के इन दोनों पक्षों को भलीभाँति समझना आवश्यक है ।

सत्य, सत् या सत्ता के अर्थ में

उपर्युक्त परिभाषा में तीन प्रकार के सत्यों का संकेत दिया गया है : दृष्ट, अनुमित और श्रुत । ये तीनों ही हमारे प्रमा या सत्यज्ञान के साधन हैं, तथा प्रमाण कहलाते हैं । नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त सत्य-ज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण कहलाता है। लिंग या लक्षण की सहायता से अनुमित ज्ञान अनुमान-प्रमाण कहलाता है । फिर शास्त्र या आप्त पुरुषों के वचनों से भी हमें सत्य का ज्ञान होता है । यह प्रमाण शाब्दप्रमाण या श्रुतिप्रमाण कहलाता है । अपनी आँखों से मेज पर पड़ी घड़ी को देखने पर हमें प्रत्यक्ष रूप से सत्य का अनुभव होता है । दूर उठ रहे धुएँ को देखकर हम वहाँ अग्नि का अनुमान करते हैं । यह अनुमित सत्य का दृष्टान्त है । तथा किसी के कहे जाने पर कि अमुक मुहल्ले में एक मकान गिर गया है, इत्यादि , उन कथनों पर विश्वास करने पर हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह श्रुत-सत्य है । सामान्यत: सत्य ज्ञान के ये तीन प्रमाण ही मुख्य रूप से स्वीकार किये गये हैं ।

लेकिन क्या ये तीनों प्रमाण पूर्णरूप से त्रुटिरहित हैं ? आसमान नेत्रों से नीला दिखाई देता है, लेकिन सत्य तो यह है कि उसका कोई रंग नहीं होता । सूर्य उदित और अस्त होता दिखाई देता है, पृथ्वी के चारों ओर घूमता दिखाई देता है लेकिन सत्य तो यह है कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है । अनुमान प्रमाण भी त्रुटिरहित नहीं

है। अगर कोई वाष्प या बादल के टुकड़े को धुआँ समझकर यह अनुमान लगाये कि उस स्थान-विशेष में अग्नि है, तो उसका यह निर्णय असत्य होगा। शब्द या आप्त प्रमाण भी दोषहीन नहीं है। विभिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न बातें प्राप्त होती हैं। एक ही वस्तु के बारे में दो व्यक्ति अलग-अलग प्रकार की सूचना दे सकते हैं। एक व्यक्ति गिरगिट को लाल देखकर हमें यह कहे कि वह लाल है और दूसरा उसी को हरा देखकर हरा कहे, तो किसकी बात को माना जाय ?

एक और उदाहरण लेवें। हाथी को जानने के लिए पाँच अन्धे गये। पाँचों ने हाथ से उसके विभिन्न अंगों को छूकर उसके बारे में भिन्न-भिन्न धारणाएँ बनाई। स्पर्श-जन्य इन्द्रिय-ज्ञान होने के कारण उन्हें हाथी का जो ज्ञान हुआ वह असत्य तो नहीं कहा जा सकता। लेकिन उसे पूर्ण सत्य भी नहीं कहा जा सकता।

सत्य का काल तथा अवस्था के साथ भी सम्बन्ध है। स्वप्नावस्था में स्वप्न हमें सत्य प्रतीत होता है। लेकिन जाग्रतावस्था में वह नहीं रहता। और गाढ़ी निद्रा में न तो स्वप्न और न जाग्रतावस्था का जगत् ही रह जाता है।

उपरोक्त विचार का सारांश यह है कि सत्य देश, काल, अवस्था, व्यक्ति आदि पर निर्भर करता है। निर-पेक्ष सत्य नाम की कोई वस्तु या चीज नहीं है। लेकिन हमारे दैनन्दिन जीवन का कार्य इन सापेक्ष सत्यों के आधार पर ही चलता रहता है। इसे शास्त्रीय या दार्शनिक भाषा में व्यावहारिक सत्य कहते हैं।

हम अपने प्रमाणों से किसी निरपेक्ष सत्य को नहीं जान सकते। हमारे ज्ञानगम्य सभी सत्य सापेक्ष होते हुए

भी, ऋषि मनीषियों का कहना है, कि एक सत्य इन सब से निरपेक्ष भी है, वह जो देश, काल, व्यक्ति अथवा अवस्था से प्रभावित नहीं होता। यह सत्य सत्ता-मात्र रूप से सर्वत्र, सर्वावस्थाओं में विद्यमान रहता है। इसे ही पारमार्थिक सत्य कहा जाता है। यही सत् या परमेश्वर भी है।

इन दो सत्यों के अतिरिक्त एक और सत्य भी है जो प्रतिभासिक सत्य कहलाता है। जैसे अँधेरे में पेड़ के एक ठूंठ को बच्चा भूत समझ ले, उसे ही चोर पुलिस समझे तथा चोर को खोजनेवाला पुलिस चोर ही समझ बैठे। रस्सी को सर्प समझना, रेगिस्तान में मरीचिका का भ्रम आदि इसी प्रातिभासिक सत्य के दृष्टान्त हैं। एक और दृष्टान्त लें। एक ही स्त्री, पुत्र के लिए माता, पति के लिए पत्नी, भाई के लिए बहन, तथा पिता के लिए पुत्री है। हाड़-मांस से निर्मित एक ही स्त्री मनःस्थिति एवं सम्बन्ध के अनुसार भिन्न-भिन्न हो गई। इसका अर्थ यह हुआ कि स्त्री की एक तो यथार्थ ईश्वर द्वारा निर्मित सत्ता है और दूसरी मनोमयी मानव निर्मित सत्ता भी है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं। एक तो उसका वास्तविक रूप या सत्ता और दूसरा उसका वह रूप जो हमें इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से ज्ञात होता है। स्वामी विवेकानन्द इसे समझाने के लिए गणित की सहायता लेते हैं। मान लीजिए कि "क" वस्तु का वास्तविक स्वरूप है। "ख" हमारा मन है, तो हम यह कह सकते हैं कि हमें जिसका ज्ञान होता है वह है "क+ख।"

उपर्युक्त दार्शनिक विश्लेषण सत्य की साधना की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सत्यवचन, सत्यपालन का

उद्देश्य है उस पारमार्थिक सत्य का साक्षात्कार करना जो वस्तु का स्वभाव है, जो Truth in itself है, तथा जिसे हमने उपर्युक्त विश्लेषण में "क" कहा । लेकिन उसका साधन तथा आचरण व्यावहारिक सत्य को लेकर ही होगा । यानें, व्यावहारिक सत्य के सहारे हमें पारमार्थिक सत्य तक पहुँचना है । जितनी माला में हम अपने मन एवं इन्द्रियों की तथा अपने प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों की, सीमा से ऊपर उठने में समर्थ होंगे, उतनी ही माला में हम पारमार्थिक सत्य के निकट पहुँच सकेंगे । जितनी माला में हमारा मन पवित्र होगा, उतनी ही माला में हम सत्य-पालन एवं सत्य में प्रतिष्ठित होने में सफलता प्राप्त कर सकेंगे ।

इससे यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक सत्य के केवल आंशिक रूप से सत्य होने के कारण सत्य की साधना कभी भी त्रुटिहीन या पूर्णतया दोषहीन नहीं हो सकती । यही कारण है कि शास्त्रकारों ने सत्य-साधना के विषय में अनेक शर्तों का उल्लेख किया है, जिनकी चर्चा नीचे की जायेगी ।

आधुनिक युग के सत्य के सब से महान पुजारी महात्मा गाँधी के अनुसार सत्य परमात्मा का श्रेष्ठतम नाम है । उनके अनुसार सत्य ही भगवान है । सत् शब्द का अर्थ अस्तित्व है, तथा जहाँ यह सत् है, वहाँ ज्ञान और आनन्द भी है । जो सत् है, वही ज्ञान और वही आनन्द भी है । सत्य या सत् के प्रति आस्था और विश्वास होना,उसी को केन्द्र बनाकर जीवन-यापन करना ही हमारे समग्र जीवन का एकमात्र लक्ष्य या उद्देश्य होना चाहिए । इसी में मानव जीवन की सार्थकता है । महात्मा

गाँधी का यह निश्चित मत है कि यदि हम इस सत्यस्वरूप परमात्मा को केन्द्र बनाकर कार्य करें तो नैतिकता के अन्य समग्र नियमादि अपने आप ठीक हो जाएँगे। सत्यपालन के बिना अन्य यम-नियमों का पालन असम्भव है। यह सत्य तो पारसमणि या कामधेनु के समान है, क्योंकि इसमें प्रतिष्ठित होने पर समग्र ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

सत्य की साधना

सत्य के स्वरूप की उपर्युक्त चर्चा के बाद, अब हम सत्य की साधना की जटिलताओं को समझने का प्रयत्न करेंगे। श्रीरामकृष्ण के कथनानुसार सत्य ही कलिकाल की तपस्या है। श्रीमद्भागवत के अनुसार भी – तप, शौच, दया और सत्य, इन चार चरणों में से एकमात्र सत्य रूप चरण ही कलियुग में धर्म को धारण करता है।

सत्यपालन कायिक, वाचिक तथा मानसिक—तीनों रूपों में करने पर ही पूर्ण कहला सकता है। कायिक या व्यावहारिक जीवन में सत्याचरण का अर्थ है–जैसा मुँह से बोला गया है, उसी के अनुसार आचरण करना। सामाजिक नियम और मर्यादाओं का पालन, व्रत या प्रतिज्ञाओं का दृढ़तापूर्वक पालन आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। हरिश्चन्द्र, भीष्म पितामह आदि इस व्रत रूप या प्रतिज्ञा रूप सत्य के पालन के कारण ही महान सत्यवादियों के रूप में आदरणीय हैं। पतिव्रता स्त्री द्वारा अग्नि के समक्ष पातिव्रत्य की प्रतिज्ञा करने पर उसे आजन्म पालन करना भी सत्य की साधना का अंग है।

उपरोक्त दृष्टान्त किसी सत्य या प्रतिज्ञा के पालन से सम्बन्धित हैं। लेकिन सत्य के साधक को अपने मुँह से

निकले शब्दों के अनुरूप दैनन्दिन जीवन में भी आचरण करना होगा। इसके अनेक दृष्टान्त श्रीरामकृष्ण के जीवन में हमें मिलते हैं। एक दिन उनके मुँह से अनायास निकल पड़ा कि अमुक के घर पर पूरी नहीं खाएँगे। इस कथन की रक्षा के लिए उन्होंने केवल मिठाइयों द्वारा ही पेट भरा। अगर वे कह बैठते कि मैं शौच को जाऊँगा, तो शौच का वेग न होने पर भी सत्य की रक्षा के लिए जलपात्र लेकर शौच के स्थान तक जाते थे। किसी बात का तीन बार मुँह से उच्चारण कर देने पर वह उनके लिए त्रिसत्य या अकाट्य सत्य हो जाती थी। एक ईर्ष्यालु पुजारी ने एक बार श्रीरामकृष्ण पर पद-प्रहार किया था। श्रीरामकृष्ण जानते थे कि यदि यह बात उनके परम भक्त मथुरबाबू को ज्ञात हो जाय तो वे उस पुजारी को कठोर दण्ड दिये बिना नहीं रहेंगे। लेकिन करुणावतार श्रीरामकृष्ण यह नहीं चाहते थे। अतः यह बात उनके मुँह से न निकले, इस उद्देश्य से उन्होंने अपने भान्जे हृदय के सामने तीन बार कहा, "पुजारी ने लात मारी है, यह बात मैं किसी से नहीं कहूँगा।" इस तरह "त्रिसत्य" करने के बाद वे निश्चिन्त हो गये तथा वह बात कभी उनके मुँह से नहीं निकली। श्रीरामकृष्ण के एक शिष्य लाटू महाराज एक रात बरसते पानी में भीगते तथा घुटनों भर जल पार करके एक भक्त के यहाँ गये, क्योंकि उन्होंने उसे कहा था कि वे उसके यहाँ उस समय आयेंगे। इस घटना के विषय में पूछने पर बाद में लाटू महाराज ने कहा था कि इस तरह की वचनबद्धता मात्र ही सत्य नहीं है। सत्य का अर्थ है अपनी अन्तरात्मा का अनुगमन करना। यही बात महात्मा गाँधी भी कहते हैं। उनके अनुसार सत्यपालन का अर्थ है, जिसे हम सत्य

एवं न्याय समझते हैं, उसका अनुगमन करना, उसके अनुरूप आचरण करना।

पातंजल योगशास्त्र के अनुसार सत्य, अहिंसादि पाँच यमों में दूसरा यम है। "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमा:।" अहिंसा को यमों में सर्वोच्च एवं प्रथम स्थान दिया जाता है, लेकिन महात्मा गाँधी प्रथम स्थान सत्य को प्रदान करते हुए कहते हैं कि सत्य और अहिंसा एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह अभिन्न हैं। उनके अनुसार यदि सत्य परमात्मा है, तो अहिंसा सार्वभौमिक प्रेम है। सत्यस्वरूप परमात्मा साध्य है तथा अहिंसादि अन्य यम उसके साधन हैं। उनके मतानुसार ब्रह्मचर्यादि अन्य यमों का पालन किये बिना यथार्थत: सत्य का पालन सम्भव नहीं है। सत्य का अनुसरण करना इतना आसान नहीं है, जितना आपात दृष्टि से प्रतीत होता है। स्वयं गाँधीजी का कथन है कि यदि सत्य-पालन पुष्पों की सेज के समान होता तो सभी उसका अनुसरण कर लेते। हमें सदा सत्य का पालन करना चाहिए, भले ही प्रलय ही क्यों न हो जाये।

वाचिक सत्य

वाणी का सत्य सत्य की साधना का एक महत्वपूर्ण अंग है।" सत्य-वचन के सम्बन्ध में व्यासदेव ने कुछ महत्व-पूर्ण शर्तें बतायी हैं—"यथाभूत अर्थयुक्त वाक्य और मन ही सत्य है।" अर्थात् जो कुछ दृष्ट, अनुमित अथवा श्रुत हुआ है, उसी प्रकार का वाक्य और मन अर्थात् कथन और चिन्तन सत्य है। अपने ज्ञान की संक्रान्ति के लिए जो वाक्य कहा जाये, वह वाक्य वंचनापरक या भ्रान्तिकारक या श्रोता के लिए अर्थशून्य न हो। वह वाक्य सर्वभूत का उपघातक न होकर उपकार के लिए प्रयुक्त होना चाहिए

क्योंकि यदि वाक्य कहने पर किसी का उपघात हो जाय तो वह सत्यरूप पुण्य नहीं बल्कि पाप ही होता है। अतएव विचारपूर्वक सर्वभूतहितजनक सत्य वाक्य ही कहना चाहिए।"

सत्य की उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार सत्यवचन की तीन शर्तें हुईं—

(१) वचन तथ्यानुरूप हो। (२) वचन वंचना-परक या भ्रान्तिकारक न हो तथा (३) वह सर्वभूत-उपकारक हो।

ठीक ठीक सत्य-बोल पाना कितना कठिन है, इसका संकेत हमें निम्न घटना से प्राप्त होता है। श्रीरामकृष्ण ने एक दिन अपने शिष्य राखाल, (जो आगे चलकर स्वामी ब्रह्मानन्द के नाम से विख्यात हुए) से कहा कि आज मैं तेरा मुँह नहीं देख पा रहा हूँ, तेरे मुँह पर एक कालिमा सी छाई हुई है, कहीं आज तूने कोई बुरा कर्म तो नहीं किया है? राखाल सोचने लगे किन्तु उन्हें किसी अनुचित कृत्य का स्मरण नहीं हुआ। तब श्रीरामकृष्ण ने पूछा कि आज तूने किसी से झूठ तो नहीं बोला है? तब राखाल को याद हो आया कि हँसी-मजाक में उन्होंने एक असत्य बात कह दी थी। इस पर श्रीरामकृष्ण ने कहा कि आगे से हँसी-मजाक में भी कभी झूठ मत बोलना।

हँसी के अतिरिक्त भय, लोभ, मोहादि के द्वारा प्रेरित होकर भी व्यक्ति झूठ बोल देता है। ईसामसीह के प्रमुख शिष्य पीटर ईसा के बन्दी बनाये जाने के बाद भय के कारण तीन बार झूठ बोले कि मैं ईसा को नहीं जानता। अतः सत्यवचन के लिए भय, लोभादि पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

उत्तेजित होने पर भी व्यक्ति अपने मुँह से अनाप-शनाप बकने लगता है । अतः गीता में "अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्" को वाणी का तप कहा गया है । सत्य वचन की इस कठिनाई के कारण बहुत से लोग मौनावलम्बन करते हैं । वस्तुतः सत्य वचन की पहली सीढ़ी मौन तथा मित भाषण ही है । मौन रहने का अभ्यासी साधक ही सावधानीपूर्वक तथा संयत वचन बोल सकता है ।

अधिकांश लोगों के लिए सत्य का इतनी कड़ाई से पालन सम्भव नहीं होता । ऐसे लोगों के लिए जैन शास्त्रों में सत्य-अणुव्रत के पालन का विधान है, जिसके अनुसार स्थूलमृषावाचन का त्याग किया जाता है । झूठी गवाही नहीं देना, किसी का रहस्योद्घाटन न करना, कूट लेखन या जाली दस्तावेज प्रस्तुत नहीं करना, कन्या-भूमि आदि के विषय में असत्य भाषण न करना इत्यादि इसके अन्तर्गत आते हैं । ये प्रारम्भिक नियम मात्र हैं । अन्ततः साधक को सत्य के पूर्ण आचरण या सत्य-महाव्रत के पालन की उच्चतम सीढ़ी पर चढ़ना होता है ।

महाभारत के युद्ध में युधिष्ठिर द्वारा कहा गया, "अश्वत्थामा हतः" वंचनापरक वाक्य के अन्तर्गत होने के कारण असत्य की श्रेणी में ही आता है । अधूरा वाक्य कहना, पूर्ण तथ्यों को न कहकर कुछ तथ्य कहना तथा कुछ छिपा जाना, आदि बातें भ्रान्ति पैदा कर सकती हैं । अगर हिन्दी न जानने वाले व्यक्ति को हिन्दी में सत्यवचन कहा जाये तो वह सत्य होते हुए भी उसके लिए अर्थहीन होगा । अतः वह सत्य की श्रेणी में नहीं आ सकता ।

(क्रमशः)

श्री चैतन्य महाप्रभु (१६)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बंगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है जिसका हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। —स.)

सन्ध्या हो जाने पर चैतन्यदेव ने गौड़ीय भक्तों के साथ मन्दिर में जाकर कीर्तन आरम्भ किया। श्री जगन्नाथ के सेवकों ने सबके गले में प्रसादी माला डाल दी थी और मस्तक पर चन्दन का टीका लगा दिया, जिसके फलस्वरूप भक्तों के अन्तर में अतिशय उल्लास का संचार हो रहा था।

काफी काल बाद चैतन्यदेव को पाकर भक्तों के और भक्तगण को पाकर चैतन्यदेव के आनन्द की सीमा न थी। बहु काल के पश्चात् आज पुनः एक साथ मिलकर संकीर्तन हो रहा था, और वह भी श्री जगन्नाथ के मन्दिर-प्रांगण में ! चार टोलियों में विभक्त होकर आठ मृदंगों और बत्तीस करतालों के साथ संकीर्तन आरम्भ हुआ। उसी संकीर्तन के मध्यस्थल में भावविभोर चैतन्यदेव मनोहर नृत्य कर रहे थे। उनकी भावाविष्ट तेजोमय देवमूर्ति, मनमोहक अंग-भंगिमा और भक्तिभाव-उद्दीपक ललित नृत्य देखकर सभी का मन भावाविष्ट हो रहा था। कीर्तन क्रमशः मन्दिर की प्रदक्षिणा करते हुए चलने लगा। नित्यानन्द, अद्वैत, श्रीवास और वक्रेश्वर ये चारजन चार टोलियों के आगे नृत्य करते हुए कीर्तन का संचालन करने लगे। संकीर्तन की सुमधुर ध्वनि से आकृष्ट हो चारों ओर से लोग दौड़े चले आये और बहुत से लोग तो उस अद्‌भुत् कीर्तन को देखने के लिए अट्टालिकाओं पर चढ़कर खड़े

हो गये। गौड़ीय भक्तों का नृत्य-गीत, कीर्तन और भावावेश देखकर उड़ीसावासी विस्मय-विमुग्ध रह गये। वे लोग चैतन्यदेव तथा उनके भक्तों की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। कीर्तन समाप्त हो जाने पर सेवकगण प्रसाद ले आये। सबने उसे भक्तिपूर्वक ग्रहण किया और प्रणाम करके विदा लेने के बाद रात बिताने को अपने अपने डेरे पर चले गये।

इसी प्रकार चैतन्यदेव ने अपने आबालसंगी अन्तरंग भक्तों को साथ लेकर पुरी में प्रेमानन्द का मेला लगाया था। क्रमशः रथयात्रा की तिथि समीप आ पहुँची। देहरथ में वामनरूपी परमात्मा का प्रतीक है पुरी के रथ में श्री जगन्नाथ का विग्रह। उनके दर्शन की आशा में सब का चित्त प्रफुल्ल था। विशेषकर चैतन्यदेव और गौड़ीय भक्तों के आनन्द की तो सीमा ही न थी। जगन्नाथजी रथ में सवार होकर 'गुण्डिचा भवन' तक यात्रा करते हैं और पुनर्यात्रा तक वहीं निवास करते हैं। रथयात्रा के पूर्व चैतन्यदेव एक दिन गौड़ीय भक्तों को साथ लेकर 'गुण्डिचा भवन' को गये और अपने हाथ में झाड़ू ले उन सब के साथ मिलकर भवन, द्वार, सिंहासन-वेदी, सीढ़ी, रास्ता आदि सबकी सफाई करने लगे। तदुपरान्त सैकड़ों कलश जल ढालकर वे लोग उस स्थान को धो-पोंछकर स्वच्छ करने लगे। एक एक कर जगमोहन (मूल मन्दिर), भोगमण्डप, नाट्य-मन्दिर, पाकशाला, आँगन आदि सब कुछ निर्मल कर लिया गया। मन्दिर और सिंहासन-वेदी को उन्होंने स्वयं ही विशेष रूप से झाड़कर, धोकर और अपने वस्त्रों से पोंछकर जी भर कर स्वच्छ किया। फिर भक्तों का उत्साहवर्धन करने के लिए वे बीच बीच में भगवान् का

नाम लेकर जयजयकार भी करते थे। इसके अतिरिक्त वे हर एक के पास जाकर काम की छोटी-मोटी बातें दिखा देते थे। झाड़ू लगाते समय वे बोले, "सबके काम की परीक्षा होगी, हर व्यक्ति अपना अपना कूड़ा-करकट अलग रखेगा।" परीक्षा के समय देखा गया कि कोई भी इन सर्वकर्मदक्ष क्षिप्रहस्त संन्यासी की बराबरी नहीं कर सका। उनके द्वारा संग्रहित कूड़े का अम्बार ही सबसे बड़ा था। जल लाना बड़े परिश्रम का कार्य था, अतः आयु और मर्यादा का विचार करके उन्होंने अद्वैताचार्य, नित्यानन्द, परमानन्द पुरीजी, ब्रह्मानन्द भारती और दामोदर स्वरूप—इन पाँच को जल लाने के कार्य में नहीं लगने दिया।

दूसरे लोगों के जल भर लाने पर इन लोगों ने उसी जल से धुलाई की। उनके साथ कार्य करते हुए भक्तों के आनन्द की सीमा न थी। दूसरों के पहले जल ले आने के प्रयास में हर कोई ठेलमठेल करता था और इसके फल-स्वरूप कितने ही घड़े फूट गये। राजभण्डार से सैकड़ों झाड़ू और सैकड़ों कलश आये थे, अतः किसी चीज का अभाव नहीं हुआ।

मन्दिर की सफाई का कार्य पूरा हो जाने पर सबके हृदय में विशेष उल्लास का संचार होने के कारण कीर्तन प्रारम्भ हुआ। कीर्तन समाप्त हो जाने पर सबने थोड़ा विश्राम किया और तदुपरान्त निकट स्थित नरेन्द्र सरोवर में उतरकर वे लोग परम आल्हादपूर्वक स्नान करने लगे। स्नान के दौरान खूब जलक्रीड़ा भी हुई। सर्वविद्याविशारद चैतन्यदेव की अद्भुत जलक्रीड़ा—तैरना, डुबकी लगाना

तथा पानी में उतराना आदि विविध प्रकार के क्रीड़ा-कौतुकों में निपुणता देखकर लोग अतीव विस्मित हुए ।

पूर्वनिर्धारित व्यवस्था के अनुसार वाणीनाथ और मन्दिर के प्रधान कर्मचारी तुलसी पड़िछा यथेष्ट मात्रा में प्रसाद ले आये थे । स्नानोपरान्त भक्तगणसह चैतन्यदेव ने परम आनन्द के साथ वह प्रसाद ग्रहण किया ।

रथयात्रा के एक दिन पूर्व श्री जगन्नाथदेव का नेत्रोत्सव होता है । स्नानयात्रा के बाद से 'वेश' परिवर्तन हेतु मन्दिर बन्द रहता है और तब विग्रह का दर्शन नहीं किया जा सकता । नेत्रोत्सव के दिन दरवाजा खुलता है और उस दिन देव-दर्शन के लिए मन्दिर में बड़ी भीड़ होती है । कई दिनों से दर्शन न मिलने के कारण व्यग्र चैतन्यदेव आज श्री जगन्नाथजी के दर्शन की आशा में अतीव उत्फुल्ल थे । भक्तों को साथ लिए वे शीघ्रतापूर्वक मन्दिर में गये और भीड़ को ठेलते हुए अग्रसर हुए । भोगमण्डप में पहुँचकर उन्होंने तृषातुर चातक के मेघ-दर्शन के समान नयन भर-कर प्रभु का दर्शन किया ।

फिर रथयात्रा के दिन रात में ही स्नान आदि कृत्य पूरा कर चैतन्यदेव भक्तों के संग मन्दिर में जा पहुँचे । मन्दिर के सामने राजपथ पर तीन विशालकाय अति मनोहर सुसज्जित रथ शोभायमान हो रहे थे । रथ पर चढ़ाने के लिए पुरोहितगण श्री जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा को मन्दिर के बाहर ले आये । तब राजा प्रतापरुद्र अपने हाथ में सोने का झाड़ू लेकर स्वयं ही रास्ता झाड़ने और चन्दन-सुवासित जल से सिंचन करने लगे । राज-सिंहासन के अधिपति होकर भी वे ऐसी तुच्छ सेवा का कार्य कर रहे थे, इसीलिए वे जगन्नाथजी के कृपाभाजन

हुए। राजा की भक्तिपूर्ण सेवा देखकर चैतन्यदेव का मन अतिशय प्रसन्न हुआ। श्री जगन्नाथ के मन्दिर से गुण्डिचा भवन तक लगभग एक मील लम्बा अति सुन्दर सीधा राजपथ है। उसी राजपथ पर लाखों लोग जगन्नाथजी के रथारोहण का दर्शन करने की आकांक्षा लिए उत्सुकता के साथ खड़े थे। चैतन्यदेव भी भक्तों के साथ आकर उस जनसमुद्र के बीच खड़े हुए, जिसके फलस्वरूप मानो उसमें उल्लास का तूफान उठने लगा। लाखों कण्ठों से मुहुर्मुहुः जयजयकार की ध्वनि उठने लगी। विविध प्रकार के संगीत, भक्तों की प्रार्थना, स्वत-स्तुति और आनन्दोल्लास के बीच श्री जगन्नाथजी ने सुसज्जित रथ पर आरोहण किया। रथ की रस्सी पकड़कर भक्तगण खींचने लगे और वह धीरे धीरे चल पड़ा। श्री जगन्नाथ की रथयात्रा आरम्भ हो जाने पर चैतन्यदेव भी गौड़ीय भक्तों के संग कीर्तन करते हुए साथ साथ चलने लगे। संकीर्तन की सात टोलियाँ बन गयी थीं, जिनमें से सामने चार, दोनों तरफ दो और पीछे एक—कीर्तन करने लगीं। हर टोली में दो दो करके कुल चौदह मृदंग बजने लगे। चैतन्यदेव ने प्रथम चार टोलियों के लिए स्वरूप दामोदर, श्रीवास, मुकुन्द और गोविन्द को प्रधान गायक बनाकर, उनमें से प्रत्येक के साथ चुन-चुनकर पाँच अच्छे गायकों को सहायक बना दिया था। अद्वैत, नित्यानन्द, हरिदास और वक्रेश्वर इन चार जन ने उक्त चार टोलियों के प्रधान नर्तक के रूप में नृत्य संचालन किया। अद्वैताचार्य के पुत्र अच्युतानन्द के संचालन में शान्तिपुर का एक दल, रामानन्द और सत्यराज खान के नेतृत्व में कुलीनग्राम का एक दल तथा नरहरि व रघुनन्दन के अधीन श्रीखण्ड का एक दल—इस प्रकार कुल

सात टोलियों का गठन हुआ था । चैतन्यदेव घूम-घूमकर सातों टोलियों के साथ मिलकर सबका उत्साहवर्धन करने लगे । इस अपूर्व संकीर्तन, भक्तों के भाव-भक्ति-उल्लास और सुमधुर नृत्य-गीत देखकर सभी विस्मित रह गये । राजा प्रतापरुद्र भी अपने दरबारियों और मित्रों के साथ चैतन्यदेव द्वारा प्रवर्तित इस महासंकीर्तन को देखकर स्तम्भित रह गये ।

कुछ देर चलने के पश्चात् रथ एक स्थान पर स्थिर होकर ठहर गया । अब चैतन्यदेव ने सातों टोलियों को एक साथ मिलाकर स्वयं कीर्तन करना आरम्भ किया । कुछ चुने हुए प्रमुख गायकों को साथ लेकर दामोदर उनके पद दुहराने लगे । भावाविष्ट चैतन्यदेव की तेजोमय देह-कान्ति तथा उनका अपूर्व नर्तन-कीर्तन एवं दर्शन का आस्वादन करने के लिए लोग चारों तरफ से आ जुटे और वहाँ बड़ी भीड़ हो गयी । जनता को दूर रखने के लिए भक्तगण एक-दूसरे का हाथ पकड़कर मण्डलाकार खड़े हो गये । इस प्रकार तीन मण्डल बन गये । प्रथम मण्डल में नित्यानन्द थे, दूसरे में काशीश्वर, गोविन्द आदि भक्तगण एक दूसरे का हाथ पकड़े खड़े थे और बाहर की ओर प्रतापरुद्र अपने दरबारियों के साथ घेरा बनाकर लोगों को अन्दर आने से रोक रहे थे । मण्डल के मध्य भाग में भावाविष्ट चैतन्य-देव सलिलसंचारी मत्स्य के समान स्वच्छन्दगति से घूमते फिरते लीलापूर्वक नृत्य-गीत और कीर्तन कर रहे थे । उनके भावमय पवित्र देह में कहीं किसी अन्य व्यक्ति के स्पर्श से पीड़ा का उदय न हो अथवा आवेश में संज्ञाहीन होकर कहीं वे धरती पर न गिर पड़ें, इस कारण नित्यानन्द दोनों हाथ बढ़ाकर उनके पीछे पीछे चल रहे थे, तो भी

सर्वदा वे उनकी रक्षा न कर पाते थे। बीच बीच में उनकी स्वर्ण की सी काया धूल में गिरकर लोटने लगती। प्रभु की संज्ञा को लौटाने के लिए आचार्य हुँकार करते हुए बारम्बार हरिदास को 'हरिबोल' कहते थे।

वह अलौकिक भाव देखकर जनसमुदाय सविस्मय चित्रलिखित सा खड़ा रह गया। राज्य के प्रधानमंत्री हरिचन्दन के कन्धे पर हाथ रखकर राजा प्रतापरुद्र अपलक दृष्टि से चैतन्यदेव का दर्शन कर रहे थे। उसी समय आचार्य श्रीनिवास आकर उनके सम्मुख खड़े हो गये। श्रीनिवास के बीच में आ जाने से दृष्टि पथ अवरुद्ध हो जाने के कारण राजा भलीभाँति देख नहीं पा रहे थे, अतः उन्हें थोड़ा खिसकाने के लिए हरिचन्दन उन्हें ठेलने लगे। परन्तु श्रीनिवास कीर्तन के भाव में विभोर थे, अतः न तो उनका राजा की ओर ही ध्यान गया और न ही वे हरिचन्दन के ढकेलने का कारण समझ सके। हरिचन्दन के बारम्बार ढकेलने पर नाराज हो कर अन्ततः श्रीनिवास ने उन्हें एक थप्पड़ लगाया और इस प्रकार तंग करने से मना किया। हरिचन्दन उत्तेजित होकर कुछ कहने ही वाले थे कि राजा की प्रबोधवाणी सुनकर उनका मन शान्त हो गया। भक्तिमान राजा ने हरिचन्दन से कहा, "तुम्हारा महाभाग्य है कि तुम ऐसे महात्मा के स्पर्श से धन्य हुए।"

भावावेग के फलस्वरूप चैतन्यदेव की देह में प्रति अंग नव नव सात्त्विक विकार प्रकट हो रहे थे। प्रति मुहूर्त उनका रूप परिवर्तित हो रहा था और वे नये कलेवर में नये मनुष्य प्रतीत होते थे। उनकी वह अपूर्व मूर्ति देखकर गौड़ीय भक्तों को भूल गया कि वे नदिया के निमाई हैं,

पुरी के भक्तों को बोध न रहा कि वे 'श्रीमत्स्वामी कृष्ण-चैतन्य भारतीजी महाराज' हैं।

नृत्य में महाप्रभु के अद्‌भुत विकार
साथ होता अष्टसात्त्विक भाव बारम्बार।
मांस चर्म सह रोम सर्व पुलकित
सेमल का वृक्ष मानो कण्टक आवृत्त ।।
प्रति क्षण कम्प देख भय सब पायें।
दाँत कभी सब उनके टूट नहीं जायें ।।
सर्वांग से स्वेद बहे उसमें लहू भी
'जज गग' "जज गग' गदगद वाणी ।।

जलयंत्र-धारा सम बहे अश्रु जल
आसपास लोग खड़े भीगते सकल ।।
देहकान्ति गौर, कभी दिखता अरुण
और कभी दीखे पुष्प मल्लिका का वर्ण ।।
कभी खड़े प्रभु कभी भू पे पड़ जाते
शुष्क काष्ठ सम हाथ-पाँव न चलाते ।।
कभी धरती पे पड़े कभी श्वासहीन
जिसे देख भक्तगण मानो प्राणहीन ।।
कभी नेत्र-नासाजल मुख से निकले
मानो चन्द्रमा से धरा-अमृत विगले ।।

थोड़ी देर बाद दिव्य आवेश का उपशम हो जाने पर चैतन्यदेव ने कीर्तन समाप्त किया। रथ पुनः धीरे धीरे अग्रसर होने लगा। भक्तगण भी कीर्तन करते हुए साथ में चलने लगे। दामोदर स्वरूप ने चैतन्यदेव के अन्तर का भाव समझकर एक समयोपयुक्त पद गाना प्रारम्भ किया—

सेइ तो पराणनाथे पाइलुँ ।
जाहा लागि मदन दहने झुरि गेलुँ ।।

चैतन्यदेव के अन्तर का भाव दामोदर विशेष रूप से समझ पाते थे । इस कारण उनके मुख से समय के उपयुक्त भजन, कविता, पद, श्लोक इत्यादि सुनकर चैतन्यदेव के आनन्द में सैकड़ों गुनी वृद्धि हो जाती थी ।

श्री जगन्नाथजी का रथ के ऊपर दर्शन करके चैतन्यदेव के हृदय में व्रजगोपिकाओं का भाव उदित हुआ । प्रियतम श्रीकृष्ण के वृन्दावन त्यागकर दूर चले जाने के कारण गोपिकाएँ उनके विरह में व्याकुल होकर उनके आगमन की आशा में कितने काल से तृषित नयन लिए बाट जोह रही हैं । काफी काल बाद वे सूर्यग्रहण के उपलक्ष्य में स्नान करने को कुरुक्षेत्र गयी हैं । रथ में सवार होकर श्रीकृष्ण भी आ रहे हैं । उन्हें आते देखकर गोपिकाएँ आनन्द में अधीर होकर दौड़ती हुई गयीं और जाकर रथ को पकड़ लिया । वे स्वयं ही रस्सी को पकड़कर खींचते हुए चलने लगीं । उन्हें विलम्ब सहन न हो पा रहा था. अत: शीघ्रतापूर्वक ले जाने के लिए कभी वे जोरों से खींचती हैं तो कभी सिर लगाकर ढकेलती हैं । इसी बीच हास-परिहास, कभी मान-अभिमान और कभी आनन्द में नृत्य-गीत भी चल रहा है । अनेक दिनों बाद 'पराणनाथ' को पाकर गोपिकाओं के हृदय में जो अपार आनन्द और माधुर्य का उद्रेक हुआ था, आज चैतन्यदेव भी अपने अन्तर में उसी का आस्वादन करते हुए रथ पर आसीन अपने 'पराणनाथ' श्री जगन्नाथ का दर्शन कर रहे थे । उनका मनोभाव समझकर स्वरूप ने ज्योंही वह पद

शुरु किया, 'सेइ तो पराणनाथे पाइलुँ, जाहा लागि मदन दहने झुरि गेलुँ'; त्योंही उनका भावसमुद्र और भी तरंगायित होने लगा। वे श्री जगन्नाथ के मुख की ओर देखते हुए कभी नृत्य, कभी गीत और कभी सुमधुर पद या श्लोक की आवृत्ति करने लगे। फिर बीच बीच में वे रथ की रस्सी को पकड़कर खींचते थे और कभी कभी अधीर हो रथ के चक्के पर मस्तक लगाकर ढकेलते थे। निर्निमेष दृष्टि से 'पराणनाथ' के चन्द्रमुख को निहारते निहारते चैतन्यदेव का मनःप्राण पूर्णतः उन्हीं में विलीन हो जाता था और बीच बीच में उनकी देह संज्ञाशून्य हो जाती थी। नित्यानन्द, गोविन्द और काशीश्वर समीप रहकर अति सावधानीपूर्वक उनके देह की रक्षा कर रहे थे। एक बार तो ऐसा हुआ कि वे लोग उन्हें सँभाल ही नहीं पाये और उनका भावविह्वल 'स्वर्ण-तनु' धूल में लोटने जा रहा था कि निकट ही खड़े महाराज प्रतापरुद्र ने तत्काल हाथ बढ़ाकर उनका श्रीअंग पकड़ लिया। इससे भाव का उपशम हो जाने पर महाप्रभु ने पीछे मुड़कर देखा। राजा को देखकर चैतन्यदेव स्वयं को धिक्कारने लगे, "छी छी, विषयी व्यक्ति का स्पर्श हो गया।" इस पर भक्तों के प्रति उपालम्भ व्यक्त करते हुए चैतन्यदेव खेद प्रकट करने लगे। उनकी बातें कर्ण-गोचर होने पर राजा के मन में बड़ा भय उपजा। तब सार्वभौम उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले, "महाप्रभु आप पर अत्यन्त प्रसन्न हैं। वे आपके निमित्त से अपने अन्तरंगों को शिक्षा दे रहे हैं। मैं अवसर देखकर उनसे निवेदन करूँगा और तब आप जाकर प्रभु स मिल लीजिएगा।"

रथ धीरे धीरे गुण्डिचा-भवन की ओर बढ़ता हुआ 'बल्लगण्डि' नामक स्थान में आ खड़ा हुआ। यहीं पर भक्तगण श्री जगन्नाथ को फल-मिष्ठान का भोग अर्पित करते हैं। भोग के समय अत्यधिक भीड़ देखकर चैतन्यदेव ने निकटवर्ती उद्यान में प्रवेश किया। थक जाने के कारण वे भूमि पर ही लेट गये और भावविभोर होकर मन ही मन भागवत से गोपीगीता की आवृत्ति करने लगे। थोड़ी ही देर में उनके परिश्रान्त देह में तन्द्रा सी आने लगी। रामानन्द और सार्वभौम मौका देखकर राजा प्रतापरुद्र छद्मवेष में वहाँ ले आये। उन लोगों का संकेत समझकर राजा महाप्रभु की पदसेवा में लग गये। इसके साथ ही साथ वे रासलीला के 'जयति तेऽधिकं' आदि श्लोक पढ़ते हुए उनका स्तवन भी करते जाते थे, जिसे सुनकर चैतन्यदेव को अपार सन्तोष हो रहा था और वे बारम्बार कह उठते थे, "और भी उच्च स्वर में कहो।" फिर राजा ने यह श्लोक पढ़ा—

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनः ॥*

भागवत का यह सुमधुर श्लोक सुनकर चैतन्यदेव अपने हृदय के उच्छ्वास को दबाकर न रख सके। उन्होंने उठकर श्लोक पढ़नेवाले को अपने आलिगन पाश में बाँध लिया

*हे प्रियतम! तुम्हारी लीलाकथा अमृतस्वरूप है, तापदग्ध प्राणों के लिए शीतल जीवनस्वरूप है, ऋषियों द्वारा इसका गान किया गया है और सर्वप्रकार के पापों का नाश करने वाली इस कथा का श्रवण हर तरह से कल्याणकारी है। तुम्हारी इस लीलाकथा का प्रचार करनेवाले ही इस जगत् के सर्वश्रेष्ठ दाता हैं। (भागवत १०/३१/६)

और कहने लगे, "तुमने आज मेरा बड़ा ही उपकार किया है, अचानक ही आकर कृष्ण-लीलामृत का पान कराया है।" राजा ने कहा, "मैं आपका दासानुदास हूँ, अपने सेवकों का सेवक बनाकर कृपया मेरी आशा पूर्ण करें।" इतने दिनों बाद आज राजा के हृदय की आकांक्षा पूर्ण हुई। वे चैतन्यदेव को बारम्बार प्रणाम करके आशीर्वाद माँगने लगे। तदुपरान्त भक्तों की वन्दना करके वे शीघ्रता-पूर्वक विदा हुए। बाद में पूरी घटना चैतन्यदेव की समझ में आयी। तब से राजा प्रतापरुद्र उनके विशिष्ट भक्तों में परिगणित हुए।

सार्वभौम और रामानन्द के साथ सलाह करके राजा प्रतापरुद्र ने वाणीनाथ के हाथों वहाँ 'बलगण्डि' भोग का प्रसाद, काफी परिमाण में फलमूल, मिष्ठान और जल भिजवा दिया। चैतन्यदेव ने उद्यान में भक्तों के साथ आनन्दपूर्वक उस प्रसाद को ग्रहण किया। उनकी भिक्षा प्राप्ति के समय कुछ गरीब लोग प्रसाद की आशा में उद्यान के पास ही खड़े थे। उन्हें देखकर चैतन्यदेव का हृदय द्रवित हुआ। वे स्वयं ही जाकर अत्यन्त स्नेहपूर्वक उन लोगों को बुला लाये और गोविन्द को आदेश दिया कि उन सभी गरीब-दुखियों को परितोषपूर्वक भोजन कराया जाय। प्रभु की आज्ञा पाकर गोविन्द उन दीनहीन लोगों को बैठा-कर भोजन कराने लगे। उन लोगों को आनन्दपूर्वक भोजन करते देख चैतन्यदेव ने उन्हें 'हरिबोल' कहकर उपदेश दिया। वे गरीब लोग भी हरि हरि कहते हुए प्रेमविभोर हो उठे। महाप्रभु ऐसी ही अद्‌भुत् लीलाएँ किया करते थे।

रथ धीरे धीरे चलता हुआ अन्त में गुण्डिचा-भवन तक आ पहुँचा। बलराम और सुभद्रा के साथ जगन्नाथजी ने मन्दिर में प्रवेश किया और सिंहासन पर विराजमान हुए। इसके साथ ही चैतन्यदेव ने भक्तों को साथ लेकर कीर्तन आरम्भ कर दिया। क्रमशः श्री जगन्नाथ का स्नान, भोग और आरती समाप्त हुई। आरती देखने के पश्चात् चैतन्यदेव ने 'आइ टोटा' नामक बगीचे में रात्रि-वास किया। श्री जगन्नाथ जितने दिन गुण्डिचा-भवन में निवास करते हैं, उनके साथ आने वाले पुरीवासी साधु, संन्यासी, त्यागी, महात्मा आदि भी उतने दिन गुण्डिचा-भवन के आसपास—उनके समीप ही निवास करते। वहाँ के धनीमानी सज्जनगण उन लोगों के वहाँ ठहरने और भोजन की सुव्यवस्था कर देते थे। चैतन्यदेव भी अपने संगी संन्यासी-ब्रह्मचारीगण को साथ लेकर इस दौरान (पुनर्यात्रा तक) समीप ही स्थित 'जगन्नाथ-वल्लभ' नामक एक उद्यान में रहे और प्रतिदिन श्रीजगन्नाथ का दर्शन, नरेन्द्र सरोवर में स्नान, भजन-कीर्तन और ध्यान-धारण में कालयापन करते रहे।

पुष्य नक्षत्र में पड़नेवाली द्वितीया को रथयात्रा और तत्पश्चात हेरापंचमी के दिन लक्ष्मीदेवी का विजयोत्सव होता है। रथयात्रा के दिन जब जगन्नाथजी लक्ष्मीदेवी को नीलाचल में छोड़कर सुन्दराचल (गुण्डिचा-भवन) चले जाते हैं, तब लक्ष्मीदेवी नाराज होकर पंचमी के दिन अपनी दासियों के साथ सजधजकर पालकी में बैठकर बाहर आती हैं और सिंहद्वार के पास बैठ जाती हैं। इसके बाद उनके आदेश पर दासियाँ जाकर जगन्नाथजी के सेवकों को पकड़कर बाँध लाती हैं। दासियाँ जब उन सेवकों को

गालियाँ देते हुए बुरी तरह पीटने लगती हैं, तब वे लोग हाथ जोड़कर क्षमा माँगते हुए चार-पाँच दिन के भीतर जगन्नाथजी को लाने का वचन देने के बाद मुक्ति पाते हैं। मन्दिर के पण्डा-सेवकगण प्रति वर्ष इसी प्रकार का अभिनय करते हुए लक्ष्मीदेवी का विजयोत्सव मनाते हैं। इस वर्ष चैतन्यदेव तथा गौड़ीय भक्तों के आनन्दवर्धन के हेतु राजा की इच्छानुसार बड़े धूमधाम के साथ इस उत्सव का आयोजन करने का निश्चय हुआ। इस विषय में राजा प्रतापरुद्र ने काशी मिश्र को बुलवाकर कहा, "कल होरापंचमी लक्ष्मीजी के विजयोत्सव का दिन है। उस दिन ऐसा उत्सव करो कि जैसा पहले कभी न हुआ हो। मन्दिर के और मेरे भी भण्डार से चित्र, वस्त्र, छत्र, घुँघरू, चामर, पताका, घण्टा, दर्पण आदि विशेष सामग्री लेकर ऐसी सजावट करो और नृत्य, गीत, वाद्य का ऐसा आयोजन करो कि जिसे देख महाप्रभु विस्मित रह जाँय।"

पंचमी तिथि को प्रभात के समय चैतन्यदेव ने गुण्डिचा-भवन में जाकर श्री जगन्नाथ का दर्शन किया और लक्ष्मीदेवी का उत्सव देखने मन्दिर में आ पहुँचे। फिर वहाँ पर लक्ष्मीदेवी का अतुल ऐश्वर्य, दासियों के साथ सजधजकर उनका बाहर निकलना, जगन्नाथ को ढूँढ़ना, क्रोध दिखाना, दासियों द्वारा श्री जगन्नाथ के सेवकों को पकड़कर मँगाना, उन पर प्रहार, कटूक्तियाँ, दोनों पक्षों के बीच वाद-विवाद और रंगरस आदि देखकर सबको अतीव आनन्द हुआ। चैतन्यदेव ने भी भक्तों के साथ इस आनन्दोत्सव का विशेष रूप से उपभोग किया।

चैतन्यदेव ने रसतत्त्ववेत्ता दामोदर से लक्ष्मीदेवी के प्रेमभाव तथा व्रजांगनाओं के प्रेमभाव की महिमा पर

तुलनात्मक आलोचना सुनने की इच्छा व्यक्त की और शास्त्रज्ञ दामोदर इसकी विस्तृत रूप से व्याख्या करके सुनाने लगे। लक्ष्मीदेवी तथा द्वारका में सत्यभामा का प्रेम एवं अभिमान ऐश्वर्यभाव से युक्त है। परन्तु व्रज-गोपिकाओं का प्रेम शुद्ध माधुर्य से पूर्ण है, उसमें ऐश्वर्य का नामगन्ध तक नहीं। दामोदर व्रजलीला का माधुर्य, गोपिकाओं के निर्मल अहैतुकी निष्काम प्रेम तथा विविध रसों के विस्तार का वर्णन करने लगे। कृष्णप्रेमोन्मादिनी गोपिकाओं और विशेषकर श्रीमती राधा के अत्युच्च प्रेमभाव का वर्णन सुनकर चैतन्यदेव के अन्तर में उन्हीं सब भावों और रसों का स्फुरण होने लगा। थोड़ी देर बाद आनन्द के अतिरेक से आत्मसंवरण कर पाने में अक्षम होकर वे भाव में विभोर प्रेमपूर्वक नृत्य करने लगे। दामोदर ने भाव को समझकर कालोपयोगी पद गाना आरम्भ किया, क्रमशः उसमें अन्यान्य भक्तों ने भी योगदान किया और कीर्तन खूब जम उठा। काफी समय बाद चैतन्यदेव के भाव का उपशम हुआ और वे नृत्य गीत को बन्दकर विश्राम करने लगे। तीसरे पहर लक्ष्मीदेवी का उत्सव समाप्त हुआ। पण्डागण यथेष्ट प्रसाद ले आये और चैतन्यदेव उसे भक्तों के बीच बाँटकर अतीव आनन्द के साथ खाने लगे।

पुनर्यात्रा (दशमी) के दिन श्री जगन्नाथ पुनः रथ पर सवार होकर मन्दिर की ओर लौट चले। चैतन्यदेव भी भक्तों के संग नृत्य-गीत-कीर्तन करते हुए साथ साथ आये। सिंहद्वार के समीप रथ के आकर खड़े होने पर श्री जगन्नाथजी को राजवेष परिधान कराया गया। स्वर्ण-निर्मित अति सुन्दर हाथ-पाँव से युक्त वह अपूर्व वेष तथा विचित्र साज-सज्जा देखकर मन मुग्ध हो जाता है।

जिस विधि से श्री जगन्नाथ रथयात्रा के दिन मन्दिर से निकलकर रथ में आसीन होते हैं और पुनर्यात्रा के दिन उतरकर मन्दिर में आते हैं, उसका नाम पाण्डुविजय है। पण्डागण विग्रह को पट्टडोरी से बाँधकर, दोनों ओर से उसी डोरी को पकड़कर, शून्य में उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखते हुए धीरे धीरे अग्रसर होते हैं। इस प्रकार जिस जिस स्थान पर विग्रह को रखा जाता है, वहाँ वहाँ नयी गद्दी बिछाई जाती है। विग्रह के दबाव से वे सब गद्दियाँ फटती जाती थीं और उससे रूई उड़ता तथा डोरी भी टूटकर टुकड़े टुकड़े हो जाती थी। इसका निवारण करने के लिए चैतन्यदेव ने कुलीनग्राम के निवासी जमींदार सत्यराज खान तथा रामानन्द वसु से सहायता माँगते हुए कहा, "इस पट्टडोरी के तुम दाता बन जाओ और प्रति वर्ष डोरी का निर्माण कराकर लाते रहना।" इसके पश्चात् टूटी हुई पट्टडोरी उन लोगों के हाथ में देते हुए महाप्रभु बोले, "इसे देखकर डोरी को अत्यन्त मजबूत बनवाना। इसी पट्टडोरी में उन शेषनाग का अधिष्ठान होता है, जो दशमूर्ति धारण करके भगवान की सेवा में लगे रहते हैं।" भाग्यवान सत्यराज तथा रामानन्द वसु सेवा की आज्ञा पाकर परम हर्षित हुए। तब से प्रति वर्ष वे लोग सब भक्तों के साथ गुण्डिचा-भवन में खूब आनन्दपूर्वक एक बहुत बड़ी पट्टडोरी लाने लगे। (क्रमशः)

०

माँ के सान्निध्य में (२६)

स्वामी ईशानानन्द

(प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक माँ सारदादेवी के शिष्य थे। मूल बंगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' के द्वितीय भाग से इसका अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। –स.)

पूजनीय शरत् महाराज ने काशी से लौटकर कलकत्ता आते ही माँ को लाने के लिए जयरामवाटी में आदमी भेजा। माँ यथासमय सबेरे सबको लेकर कलकत्ते के लिए रवाना होने लगीं। सब के अन्त में कि——महाराज और ह——ने प्रणाम किया। माँ ने उन लोगों को अपना व्यवहृत किया हुआ एक एक कपड़ा और चादर देते हुए कहा 'इसे रखो' और सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया तथा सजल नेत्रों से यात्रा प्रारम्भ की। मैं सायकिल में पालकी के साथ साथ चलने लगा। रास्ते में शिहोड़े के शान्तिनाथ महादेव के पास माँ ने पालकी उतरवा कर २ रुपये का सन्देश, चीनी, गुड़ आदि खरीदकर शंकरजी की पूजा करवायी। सभी उपस्थित लोगों को तथा हम लोगों को प्रसाद देकर माँ ने स्वयं थोड़ा सा प्रसाद ग्रहण किया तथा राधू के लिए थोड़ा सा आँचल में बाँध लिया। सभी यथासमय कोयलपाड़ा पहुँच गये। उसी दिन शाम को राधू आदि महिलाएँ बैलगाड़ी से विष्णुपुर को रवाना हुईं। दूसरे दिन सबेरे ५ बजे जब मैं जगदम्बा आश्रम में पहुँचा तो देखता हूँ कि माँ फूल मिठाई देकर ठाकुर की पूजा समाप्त करके ठाकुर का फोटो कपड़े में लपेट कर सन्दूक में रखते हुए ठाकुर को लक्ष्य करके कह रही हैं, "उठो, अब यात्रा का समय हो गया।" मुझे देखकर कहने लगीं, "तुम आ गये ? इतनी देरी कैसे कर दी, धूप हो जायेगी।

लो यात्रा का फूल लो," कहकर उन्होंने ठाकुर की पूजा का एक फूल अपने माथे पर छुआ कर मेरे हाथ में दिया। बाद में सबसे विदा लेकर वे पालकी में बैठीं। कुछ दूर चलने पर माँ ने कहा, "हमेशा मेरे साथ साथ सावधानी से चलना। राधू और माकू के सब जेवर माकू की पालकी में है।" जयपुर पहुँचने पर माँ ने उस चट्टी के पास पालकी नीचे उतरवाई, जहाँ पिछली बार जयरामवाटी जाते समय हम लोगों ने भोजन बनाकर खाया था। उसकी भग्नावस्था देखकर माँ हँसते हुए कहने लगीं, "अहा! हम लोगों की वही चट्टी है जी!" उसके पास जाकर वे कम्बल बिछाकर बैठीं और कहने लगीं, "कहारों को कुछ खिलाओ।" दो रुपये देकर उन्होंने मुरमुरा खरीदने को कहा। बाद में माकू के लड़के के लिए दूध गरम करके माँ सामने के तालाब से हाथ पैर धोकर आयीं और कहने लगीं, "मेरे लिए एक पैसे का मुरमुरा ला दो, मैं भी कुछ चबाऊँ। और तुम्हारे और माकू के लिए यदि कुछ पकौड़ी आदि पाओ तो ले आओ।" मेरे वह सब लाने पर माँ ने थोड़ा सा खाया और हम लोगों को दे दिया। वे कहने लगीं, "और चबाया नहीं जाता।" कहारों का खाना होने पर पालकी फिर से रवाना हुई। चार मील जंगल पार करके ताँतीपुर में पहुँचकर देखता हूँ कि एक दूकान के पास मजदूर लोग भीड़ किये हुए हैं। मैं सोचने लगा कि यदि यह स्थान शीघ्र पार कर लिया जाय तो दो मील के बाद लोगों की थोड़ी बहुत बस्ती मिलेगी, उससे बहुत कुछ निश्चिन्तता होगी। किन्तु माँ पालकी से झाँककर दूकान को देखकर कहने लगीं, "थोड़ा पालकी को नीचे उतराओ। पालकी में बैठे बैठे मेरा पैर अकड़ गया

है । उस दूकान से अधेले का तेल साल के पत्ते पर रखकर ला दो, पैर में मालिश कर लूँ ।" मैं यह बात सुनकर भय से भर उठा । अन्त में मैंने माँ से कहा, "यहाँ पर ये लोग न जाने सब कौन हैं । आपको नीचे उतरने की आवश्यकता नहीं । आप पालकी में ही बैठी रहिए। मैं तेल ला देता हूँ ।" माकू उसी समय कहने लगी, "मुरमुरा खाकर मुझे बड़ी प्यास लगी है, मैं थोड़ा पानी पीऊँगी ।" माँ ने कहा, "जा, उस तालाब से पीकर आ जा ।" मैंने कहा, "वह पानी पीने लायक नहीं, वह गन्दा है ।" माँ ने कहा, "रास्ते में कितने लोग उसे पीते हैं । कुछ नहीं होगा । तुम उसके साथ जाओ और पिला लाओ ।" माँ को मैंने तेल खरीद कर दिया और माकू को जल पिलाकर लौटने के बाद हम लोग पुनः रवाना हुए । करीब १२ बजे हम लोग विष्णुपुर में सुरेश्वर बाबू के घर पहुँचे । सुरेश्वर बाबू ने कुछ महीने पहले ही देहत्याग किया था । माँ उनके सम्बन्ध में कहने लगीं, "अहा, मेरे यहाँ आने पर सुरेश मेरी ओर हाथ जोड़कर इसी स्थान में खड़ा रहता था । कभी बरामदे तक में नहीं आता था । कैसी भक्ति थी उसकी । * उस दिन विष्णुपुर में रुककर, दूसरे दिन दोपहर में भोजन के पश्चात् हम लोग माँ को लेकर तृतीय श्रेणी के डब्बे में कलकत्ते के लिए रवाना हुए और रात में प्रायः १०॥ बजे उद्बोधन पहुँचे ।

योगेन माँ और गोलाप माँ, माँ का शरीर देखकर हम लोगों से कहने लगीं, तुम लोग यह किस माँ को लेकर आये हो जी, भूत के समान काली । केवल चमड़ा और

* माँ बीच-बीच में कहती थीं, "सुरेश मानो दूसरा गिरीश बाबू है ।"

कुछ हड्डी लेकर चले आये हो ? माँ का शरीर इतना खराब होगा यह हम लोग बिल्कुल ही समझ नहीं पाये ।" दूसरे दिन से ही शरत् महाराज ने माँ की चिकित्सा की सब प्रकार से व्यवस्था की ।

श्री श्यामादास कविराज की चिकित्सा से माँ कुछ दिन थोड़ी अच्छी रहीं । उसी बीच एक दिन शाम को कुछ स्त्री भक्त दर्शन करने को आयीं । उनमें से एक जेवरों और कपड़ों से बड़ी सजी-धजी थी तथा जरा चंचल प्रकृति की थीं । माँ ने उन लोगों की ओर लक्ष्य करते हुए कहा, "देखे लज्जा ही स्त्रियों का भूषण है । फूल की सबसे बड़ी सार्थकता देव सेवा में लगने से है । अन्यथा उसका वृक्ष पर ही सूख जाना अच्छा है । किन्तु मुझे यह देखकर बहुत दु:ख होता है जब बाबू लोग कभी फूलका गुलदस्ता बनाते हैं और कभी उसे नाक के पास ले जाकर कहते हैं, 'वाह, कैसी सुगन्ध है !' अरी माँ, और दूसरे ही क्षण वे उसे जमीन पर फेंक देते हैं अथवा जूते के नीचे कुचल देते हैं । उसकी ओर मुड़ कर भी नहीं देखते ।" *

इसी बीच एक दिन एण्टाली में उत्सव देखने के लिए जाते समय रामलाल दादा, लक्ष्मी दीदी और रामलाल दादा की पुत्री दक्षिणेश्वर से होकर माँ के पास आये । रामलाल दादा माँ को प्रणाम कर नीचे शरत् महाराज के पास गये । लक्ष्मी दीदी ने माँ तथा अन्य सभी के अनुरोध पर दबे स्वर से कीर्तन गाकर तथा साथ ही साथ मुँह से खोल के बोल निकालकर सुनाया । बाद में बातचीत

---

* बाद में सुनने में आया कि उस स्त्री का पति अनेक दिनों से लापता था ।

के बीच श्रीठाकुर के जन्म स्थान, वहाँ बनने वाले मन्दिर तथा विषय-सम्पत्ति आदि की बात निकली।

लक्ष्मी दीदी—वह (मन्दिर आदि) सब होने से वह हम लोगों की देखरेख में रहेगा तो? इनके (रामलाल दादा और शिबू दादा) के लड़के आदि ही सब पूजा करेंगे, रहेंगे।

माँ—वैसा कैसे होगा? ये लोग सब साधु भक्त हैं। इन लोगों में क्या जाति पाँति का विचार है? कितने देशों के सब लोग, साहब लोग आयेंगे, यहाँ रहेंगे, प्रसाद पायेंगे। हम लोगों का तो सब भक्तों को लेकर ही कारोबार है। तुम लोग हुए संसारी। तुम लोगों का समाज है, लड़के लड़कियों के विवाह आदि की बात है। तुम लोगों का उनके साथ क्या रहना हो सकेगा?

इसी प्रकार कुछ और बातचीत के बाद माँ ने कहा, "तुम लोगों के अभी जिस प्रकार के घर हैं, उसी प्रकार के घर टिन के छप्पर देकर अलग से दूसरे स्थान में, युगी लोगों के खलिहान के पास अथवा पश्चिम की ओर बनवा दिया जायेगा।"

लक्ष्मी दीदी—तब क्या रघुवीर और शीतला, ठाकुर का जो मन्दिर बनेगा, उसमें रहेंगे?

माँ—वैसा कैसे सम्भव है? वे तो तुम लोगों के गृह देवता हैं। तीज त्यौहार में तुम्हारे यहाँ की बेटी, बहुएँ पूजा अर्चना करेंगी। वैसा नहीं हो सकता। वे लोग रघुवीर के लिए अलग से पक्का मन्दिर बना देंगे। पास से एक रास्ता रहेगा जिससे महिलाएँ आ जा सकेंगी। तुम, रामलाल अथवा शीबू जब वहाँ जाओगी तब तुम लोग

मन्दिर में ही भक्तों के साथ खाओगी और रहोगी। तुम लोगों को चिन्ता की कोई बात नहीं।

ऊपर शरत् महाराज के कमरे में रामलाल दादा आदि आये। माँ का प्रस्ताव रामलाल दादा और लक्ष्मी दीदी ने पूरे हृदय से स्वीकार किया और शरत् महाराज की सारी बातें सुनकर आनन्द प्रकाश करने लगे।

लक्ष्मी दीदी और रामलाल दादा के चले जाने पर माँ ने मुझे बुलाकर कहा, "देखो, उस समय लक्ष्मी के साथ बातचीत करते करते उसे कपड़ा और रुपया देना भूल गयी। तुम कृष्णलाल के साथ एण्टाली जाकर उत्सव देख आओ और लक्ष्मी को रुपया और कपड़ा दे आना। एण्टाली में वे लोग मूर्ति को बड़ा सुन्दर सजाते हैं।" यह कहकर उन्होंने दो रुपया और एक कपड़ा निकालकर दिया। बाद में वे कहने लगीं, "लक्ष्मी, ठाकुर के सामने कीर्तनियों का अनुकरण कर गाते गाते नाचकर भाव भंगी के साथ दिखाती थी। ठाकुर ने मुझसे कहा था, 'उसका वैसा ही भाव है। तुम उसका अनुकरण करके लज्जा नहीं त्यागना।"

जयरामबाटी से पत्र आया कि उसी अंचल का एक व्यक्ति डाका डालते समय पकड़ा गया है। माँ यह सुनते ही कह उठीं, "बेटा, देखा? मैं जानती थी कि उसकी डाका डालने की आदत गयी नहीं है। मैं यत्न करके उसे कितना स्नेह देती थी तथा कितनी सब चीजें देती थी? इसीलिए वह मुझे मानता था। मेरे पास आने से केंचुए के समान रहता। मुझे तो इन सब लड़कियों तथा उनके सब जेवरादि के साथ रहना होता है। तुम लोग तो कब कहाँ

रहोगे, कुछ ठीक नहीं है। दुर्जन को जैसा भी हो दूर ही रखना चाहिए।

माँ की बीमारी क्रमश: बढ़ती ही जा रही है। बुखार केवल १०२, १०२.५ डिग्री तक चढ़ता है किन्तु हाथ पैर की जलन के कारण बड़ी बेचैनी रहती है। वे आजकल हमेशा कहती रहती हैं, "मुझे गंगा के किनारे ले चलो, गंगा के किनारे मैं शीतल होऊँगी।" पूजनीय शरत् महाराज इसके लिए प्रयास भी कर रहे हैं। किन्तु डाक्टरों ने इस अवस्था में हिलने डुलने से मना किया है। एक दिन माँ मुझसे कहने लगीं, "तुम राधू आदि इन सब को जयरामवाटी में पहुँचा आओ।"

हम लोग सोचने लगे कि माँ के प्राण तो राधू में हैं, उसे छोड़कर तो वे एक मुहूर्त के लिए भी नहीं रह पाती हैं और इस अवस्था में वे इन सबको जयरामवाटी भेजने के लिए कह रही हैं, यह कैसी बात है! माँ क्रमश: उन लोगों पर इतनी नाराज होती जा रही थीं कि नलिनी दीदी आदि उनके पास जाने का साहस नहीं कर पाती थीं। पूजनीय शरत् महाराज माँ को समझाने लगे, "आपकी ऐसी बीमारी देखकर उन लोगों को जाने में कष्ट होगा। आपके थोड़ा स्वस्थ हो जाने पर वे लोग चले जायेंगे।" माँ ने कहा, "भेज देने से ही अच्छा होगा। किन्तु वे मेरे पास और न आयें। अब मेरी उन लोगों की छाया देखने की भी इच्छा नहीं।"

एक दिन दोपहर को राधू पास के कमरे में सो रही थी। उसका लड़का घुटने के बल चलते चलते माँ के बिस्तर के पास आया और उनकी छाती के ऊपर चढ़ने लगा।

माँ यह देखकर उसे लक्ष्य करके कहने लगीं, "तुम लोगों की माया अब एकदम काट चुकी हूँ। जा, जा अब तू मुझे बाँध नहीं सकेगा।" मुझसे कहा, "उसे उठाकर उधर ले जाओ। यह सब अब मुझे अच्छा नहीं लगता।" मैं बच्चे को उठाकर उसकी दादी के पास दे आया।*

एक दिन जयरामवाटी में किसी के छोटी मामी के साथ बातचीत में कठोर भाषा का प्रयोग करने पर माँ ने कहा, "यह क्या जी, मनुष्य के मन को चोट पहुँचाकर क्या बात करनी चाहिए? बात सच होने पर भी उसे अप्रिय ढंग से नहीं बोलनी चाहिए। नहीं तो स्वभाव बाद में वैसा ही हो जाता है। मनुष्य का यदि आँखों का संकोच चला जाय तो मुँह में कोई बात रुकती नहीं। ठाकुर कहते थे, 'यदि किसी लँगड़े से पूछना हो कि तुम लँगड़े कैसे हुए तो उससे कहना चाहिए, कि तुम्हारे पैर ऐसे मुड़ कैसे गए?"

अन्त अन्त में माँ का शरीर अत्यन्त दुर्बल हो जाने से वे अधिक समय तक बैठ नहीं पाती थीं। किन्तु मैं देखता था कि वे सोये ही जप कर रही हैं। जयरामवाटी में रात में एक-दो बजे जब मैं किसी काम से उन्हें पुकारता तो वे एक ही पुकार में उत्तर देतीं। यह पूछने पर कि क्या उन्हें नींद नहीं आयी, वे कहतीं, "क्या करूँ बेटा, लड़के लोग आकर व्याकुल होकर जिद करते हैं और दीक्षा लेकर चले जाते हैं। किन्तु कोई नियमित रूप से (जप) नहीं करते और कोई कोई तो बिल्कुल ही नहीं करते। इसलिए जब उनका भार लिया है तब तो मुझे उन्हें देखना होगा तो? इसीलिए जप करती हूँ। तथा ठाकुर के पास उनके लिए

* माँ ने इसके पश्चात् ही स्वधाम प्रस्थान किया था।

प्रार्थना करती हूँ, 'हे ठाकुर, उन्हें चैतन्य करो, मुक्ति दो। इस संसार में बड़ा दुःख कष्ट है। और जिससे उन्हें आना न पड़े'। यह कहते कहते वे अत्यन्त धीरे धीरे उठ कर बैठ जातीं और पुनः कहतीं, "इतना आग्रह करके मन्त्र को ले गया पर कुछ करता नहीं क्यों? इतना क्या कठिन है? थोड़े से अभ्यास के साथ कर सकने से कैसा आनन्द आता है। अहा, योगेन और हमने वृन्दावन में कितने आनन्द से कितना सब जप तप किया है। आँख, मुँह में मक्खी बैठकर घाव कर देती थी—पर होश नहीं रहता था।"

एक दिन माँ कहने लगीं, "चाहे जितना बोलो कि मैंने इतना जप किया, इतना काम किया, पर वह कुछ भी नहीं है। महामाया, अगर मार्ग न छोड़ दें तो कौन क्या कर सकता है!" यह कहकर माँ कामारपुकुर में ठाकुर के रहने की समय की एक घटना सुनाने लगीं, "एक बार कामारपुकुर में जेठ के महीने में शाम को खूब वर्षा होने से मैदान आदि सब पानी से भर गये। ठाकुर, डोमपारा के पास के रास्ते से पानी में से होकर शौच के लिए मैदान की ओर जा रहे थे। वहाँ पर बहुत से लोग पानी में मागुर मछली इकट्टी हुई देखकर लाठी से मारने लगे। एक मागुर मछली ठाकुर के पैरों के चारों ओर घूमने लगी। यह देखकर ठाकुर कहने लगे, "अरे, इसे नहीं मारना रे, यह मेरे पैरों के चारों ओर कैसी शरणागत हुई घूम रही है। कोई यदि सको तो इसे तालाब में छोड़ आओ। बाद में वे स्वयं ही उसे तालाब में छोड़कर घर लौटे और कहने लगे, "अहा, कोई यदि इस प्रकार शरणागत हो सके तभी वह रक्षा पा सकता है।" (क्रमशः)

०

धर्म-निरपेक्षता का ऐतिहासिक स्वरूप

स्वामी आत्मानन्द

हमारे देश में धर्म-निरपेक्षता की परम्परा उतनी ही पुरानी है, जितना कि हमारा धर्म। हमारे यहाँ धर्म की व्याख्या मनुष्य-इकाइयों को जोड़ने वाले सूत्र के रूप में की गयी है। 'महाभारत', जो प्राच्यविदों द्वारा लगभग ३००० वर्ष पूर्व का माना जाता है, धर्म की बड़ी ही व्यापक व्याख्या करता है। वहाँ 'शान्तिपर्व' में युधिष्ठिर का भीष्म पितामह से वार्तालाप दिखलाया गया है, जहाँ अनेक अन्य प्रश्नों के साथ युधिष्ठिर एक प्रश्न यह भी करते हैं, "पितामह, धर्म क्या है?" और इसके उत्तर में पितामह कहते हैं–

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
अहिंसार्थाय भूतानाँ धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

––अर्थात् "प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है; अतः जो इस उद्देश्य से युक्त हो अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् सिद्ध होते हों, वही धर्म है; ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का निश्चय है।"

"धर्म का नाम धर्म इसलिए पड़ा है कि वह सबको धारण करता है––अधोगति में जाने से बचाता और जीवन की रक्षा करता है। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है; अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता हो, वही धर्म है; ऐसा धर्मवेत्ताओं का निश्चय है।"

"प्राणियों की हिंसा न हो, इसके लिए धर्म का उपदेश किया गया है; अतः जो अहिंसा से युक्त हो, वही धर्म है; ऐसा धर्मवेत्ताओं का निश्चय है।"

धर्म की यह व्याख्या वस्तुतः धर्मनिरपेक्षता का स्वरूप ही हमारे सामने रखती है। धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य धर्मविहीनता नहीं है, जैसा कि हम अच्छी तरह जानते हैं। जब से हमारा राष्ट्र स्वाधीन हुआ, हमने संविधान में उसके धर्मनिरपेक्ष रहने की घोषणा की। हमारे संविधान की धारा १५ की कण्डिका १ कहती है—"राज्य धर्म, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी एक के आधार पर किसी नागरिक से भेद नहीं करेगा।" इसका मतलब साफ है। १९४८-४९ में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग गठित हुआ था। उसने अपने प्रतिवेदन में लिखा—"To be secular is not to be religiously illiterate. It is to be deeply spiritual and not narrowly religious"— अर्थात्—"धर्मनिरपेक्ष होने का यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति धार्मिक दृष्टि से अनपढ़ रहे। उसका तात्पर्य है— गहरे रूप से आध्यात्मिक होना, न कि संकीर्ण रूप से धार्मिक बनना।"

हमारी भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि उसने धर्म के क्षेत्र में उदारता का पाठ पढ़ाया है। जिसे विश्व ने हिन्दू धर्म के नाम से जाना है, उसने धर्मनिरपेक्षता की सही व्याख्या संसार के समक्ष रखी है। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में कहा है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—'सत्य एक है, ज्ञानीजन उसी को भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं।' धर्मनिरपेक्षता का भाव ऐसी ही उदारता के आधार पर खड़ा होता है।

सम्राट् अशोक के शिलालेख, जो आज से २३०० वर्ष पूर्व के हैं, यह घोषणा करते नहीं थकते कि "जो व्यक्ति अपने पन्थ के प्रति आदर व्यक्त करते हुए यह सोचकर दूसरे पन्थों की निन्दा करता है कि उससे उसके अपने पन्थ का गौरव बढ़ेगा, वह वास्तव में ऐसे कृत्य से अपने ही पन्थ पर सबसे कड़ी चोट पहुँचाता है।" धर्मनिरपेक्षता का इससे बढ़कर दृष्टान्त और कहाँ मिलेगा ?

हमारे देश में धर्म के नाम पर कभी रक्तपात नहीं हुआ। इतिहास बताता है कि हमने अपने मत को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए शास्त्रार्थ तो किये, पर शस्त्रार्थ कभी नहीं। धर्म के नाम पर खून-खराबी भारत को मुगल आक्रान्ताओं की देन है। यदि इसलाम हमारे देश में एक मित्र के नाते, शान्ति की घोषणा करता हुआ आता, तो सामाजिक समानता के सन्देश द्वारा हिन्दू सामाजिक संरचना को एक स्वस्थ दिशा प्रदान की होती। हिन्दू धर्म ने उससे हर्षपूर्वक यह पाठ पढ़ा होता और बदले में सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया होता। पर दुर्भाग्य यह था कि भारत में इस्लाम सन्तों के द्वारा नहीं लाया गया—वह लाया गया उन युद्धलोलुप आक्रमणकारियों के द्वारा, जो अपने को इसलाम का अनुयायी तो कहते थे, पर व्यवहार में अपनी राष्ट्रीय बर्बरता का ही प्रदर्शन करते थे, जिन्होंने भारत को रौंद डाला तथा जो हिन्दू धर्म और संस्कृति को क्षत-विक्षत करने के ही प्रयत्न करते रहे। धर्म के नाम पर ऐसी बर्बरता को देख हिन्दू क्षुब्ध और चकित था। उसने धर्म के नाम पर रक्तपात नहीं देखा था। अमृतसर के स्वर्णमन्दिर की भित्तिशिला रखने के लिए एक मुस्लिम सन्त को बुलाया गया—यह तो इतिहास की कहानी है।

मुगलों के इन आक्रमणों से हिन्दुओं की रक्षा करने के लिए सर्वप्रथम संगठित प्रयास गुरु गोविन्दसिंह ने किया, जिन्होंने 'खालसा' पन्थ का निर्माण किया। 'खालसा' शब्द 'खालिस' का ही रूप है, जिसका अर्थ होता है शुद्ध। इस प्रकार 'खालसा' शुद्ध हिन्दू का पर्याय था, जो हिन्दुओं की रक्षार्थ समय की आवश्यकता को देखते हुए सामने आया। और आज यह कैसी विडम्बना है कि कुछ लोग अपने को 'खालसा' कहते हुए, खालिस्तान की माँग कर, देश के टुकड़े करने में तथा धर्म के नाम पर रक्तपात करने और कराने में नहीं हिचक रहे हैं। ऐसे लोगों के द्वारा देश का धार्मिक सन्तुलन बिगड़ जाता है और धर्मनिरपेक्षता की भावना, जो जन्म और स्वभाव से ही भारत के अधिसंख्य हिन्दुओं के रक्त में विद्यमान है, दबने लगती है। इसके जो भयंकर दुष्परिणाम होते हैं, वह किसी की आँखों से छिपे नहीं हैं।

धर्मनिरपेक्षता का एक और बाधक तत्त्व है—और वह है धर्मान्तरण। यदि कोई व्यक्ति अपने जन्म से प्राप्त धर्म में अपनी परिपूर्णता न होती देख कोई दूसरा धर्म अपना लेता हो, जिसमें उसे आध्यात्मिक सन्तुष्टि का अनुभव होता हो, तो ऐसे धर्मान्तरण में दोष नहीं है। पर जहाँ पर प्रलोभन और भय के द्वारा लोगों के समूह को धर्म बदलने पर बाध्य किया जाता हो, ऐसा धर्मान्तरण राष्ट्र की सुरक्षा के लिए खतरा बन सकता है—विशेषकर तब, जब धर्मान्तरण के माध्यम से लोगों को राष्ट्र की जड़ से अलग काटने का उपक्रम किया जाता हो। यह दुर्भाग्य की बात है कि विदेशों से यहाँ आयी मिशनरियाँ ऐसा ही गर्हित कार्य कर रही हैं। रचनात्मक कार्य तो प्रशंसा के

योग्य होते हैं, पर ऐसे कार्यों के मुखौटे के पीछे यदि राष्ट्र-विरोधी दुरभिसन्धि हो, तो ये कार्य तब प्रशंसा नहीं, तिरस्कार के योग्य बन जाते हैं। ऐसे कार्यों की तुलना उन दूध से की जा सकती है, जिसमें विष की बूंद मिली हो। विषमिश्रित दुग्ध जीवन देगा या मृत्यु—यह थोड़ी भी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति समझ ले सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मनिरपेक्ष भारत राष्ट्र के सच्चे नागरिक होने के लिए भारतीय मुसलमानों को अपनी संकीर्ण दृष्टि का त्याग करना होगा और हिन्दू धर्म से परधर्मसहिष्णुता का पाठ सीखना होगा। तभी वे सही अर्थों में भारतीय होंगे। हिन्दू भी इसलाम से सामाजिक समानता का पाठ सीखेगा और अपने ऊपर लगे छुआछूत एवं जाति-भेद-वैषम्य आदि के कलंक को दूर करेगा। एक भारतीय ईसाई अपनी भारतीयता और पूर्वजों से मिली धार्मिक उदारता की विरासत का गौरव करेगा—वह विदेशी मिशनरियों का विरोध करेगा और उनकी राजनैतिक दुरभिसन्धियों का पर्दाफाश करेगा तथा उनको विफल करने का प्रयास करेगा।

यदि हमें अपनी धर्मनिरपेक्षता की जड़ों को सुरक्षित रखना है,तो यह'साधनचतुष्टय' अवश्यमेव करणीय होगा—

पहला—हम धर्म के क्षेत्र में 'बहुसंख्यक' और 'अल्पसंख्यक' कहना छोड़ दें। धर्म मनुष्य की व्यक्तिगत आवश्यकता है। उसके मानने वाले की संख्या को महत्त्व देना राष्ट्र के हित में नहीं है। धर्म पर आधारित आरक्षण राष्ट्रविरोधी गिना जाय। धर्म के नाम पर कोई विशेष माँग न स्वीकार की जाय या कोई विशेष सुविधा न मुहैया की जाय।

दूसरा—धर्म को राजनीतिक दुरभिसन्धियों का साथी न बनाया जाय। पूजा के स्थानों को राजनीति का गढ़ न बनने दिया जाय।

तीसरा—प्रलोभन और भय के द्वारा तथा राजनीतिक दुरभिसन्धि से प्रेरित धर्मान्तरण पर अविलम्ब रोक लगायी जाय।

और चौथा—धर्म अथवा जाति के नाम पर अलग कानून भारतराष्ट्र की जड़ों को मजबूत नहीं होने देगा। इसलिए हमारे संविधान की धारा १५ की कण्डिका १ में जो घोषित हुआ है, उसका ईमानदारी से पालन करते हुए भारत के हर नागरिक के लिए समान कानून की व्यवस्था की जाय।

केवल इसी प्रकार हमारा धर्मनिरपेक्षता का ऐतिहासिक स्वरूप कायम रह सकता है, अन्यथा नहीं।

कृष्णानरागिनी

स्वामी विदेहात्मानन्द

कुछ दिनों पूर्व एक दक्षिण भारतीय संन्यासी के मुख से उनके जीवन में घटित एक घटना सुनने को मिली, जो बड़ी ही विस्मयजनक प्रतीत हुई। पुराणों में वर्णित अनेक कथाएँ पढ़कर कभी कभी मन में प्रश्न उठता था कि कहीं इनमें से अधिकांश कल्पनाप्रसूत तो नहीं हैं, परन्तु कभी ऐसा नहीं सोचा था कि ऐसी घटनाएँ आज भी होती हैं। प्रत्यक्षदर्शी के मुख से सुनने के कारण ही उस पर विश्वास हो सका। जहाँ तक सम्भव हुआ है उसे लिपिबद्ध करने का प्रयास किया गया है। इसकी व्याख्या पुनर्जन्म के सिद्धान्त से की जाय अथवा किसी अन्य प्रकार से हो, इसका निर्णय पाठक स्वयं ही करें। इस घटना का वर्णन करते हुए उन्होंने बताया था—

लगभग बीस वर्ष पहले की बात है। एक बड़े नगर में निवास करता था और नया नया कालेज में भरती हुआ था। घर के परिवेश से मुझमें धर्म के संस्कार थे, पर आध्यात्मिकता की ओर कोई विशेष रुझान न था। मन में इच्छा थी कि पढ़-लिखकर एक अच्छा वैज्ञानिक बनूँगा, परन्तु निम्नोक्त घटना ने मेरे जीवन की दिशा ही बदल दी।

कालेज में एक दिन मेरा एक सहपाठी आकर बोला- "मेरी माँ आपसे मिलना चाहती है।" मैंने कहा, "न तो मैं तुम्हें जानता हूँ और न तुम्हारी माताजी से ही मेरा परिचय है। मैं भला क्यों उनसे मिलने जाऊँ ?" खैर, थोड़ा सोच-विचार के पश्चात् मैं सहमत हुआ। हमारा निवास स्थान भी उसी मुहल्ले में था उनके घर से लगभग

एक किलोमीटर दूर। कालेज में छुट्टी हो जाने पर मैं अपने सहपाठी के साथ हो लिया। घर में केवल उसकी माँ और एक छोटी वहन थी। पिताजी तब भी दफ्तर से लौटे नहीं थे। उसकी माताजी ने मुझे काफी और जल-पान दिया। मेरे खाना शुरू कर देने पर वे कहने लगीं, "देखो बेटा! यही मेरा इकलौता पुत्र है और कालेज यहाँ से आठ-दस किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। आजकल सड़क पर ट्रैफिक की हालत से तो तुम भलीभाँति परिचित हो। यदि यह साइकिल से अकेले जाता है तो मेरे प्राण आशंकित रहते हैं। यदि तुम कृपा करके इसे प्रतिदिन साथ ले जाओ और छुट्टी होने पर यहाँ छोड़ जाया करो, तभी मैं उसे भेज सकूँगी।" मैंने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया।

मेरे मित्र के पिता ने उसके कालेज आने-जाने के लिए एक साइकिल खरीद दी। प्रातःकाल समय हो जाने पर वह मेरा इन्तजार करता और मुझे आते देखकर साथ निकल पड़ता। शाम को भी हम दोनों कालेज से एक साथ ही लौटा करते। तब उसकी माँ मुझे बिना कुछ खिलाये नहीं जाने देती थी। हमारे पहुँचते ही उसकी चार वर्ष की बहन शुभा दौड़कर मेरे लिए काफी और नाश्ता मेज पर सजा देती, फिर माँ के पास खड़ी-खड़ी मेरे साथ बातें करती और खाना हो जाने पर बरतन उठाकर धोने के कमरे में पहुँचा आती। उसके बाद मैं अकेला अपने घर लौटता। यह मेरी दिनचर्या का एक अंग ही बन गया। शुभा एक अत्यन्त आनन्दप्रिय बालिका थी। उसे खिलौने, टाफियाँ, बातें करना आदि खूब पसन्द थे। थोड़े ही दिनों में मेरे साथ उसकी बड़ी घनिष्टता हो गयी। वह मुझे 'मामा' कहकर सम्बोधित करती थी।

अगले वर्ष जब शुभा पाँच साल की हुई तो उसके विद्यारम्भ संस्कार का आयोजन किया गया । दक्षिण भारत में इस संस्कार के समय चावल के आटे से बच्चों द्वारा ॐ लिखवाने की प्रथा है। परन्तु शुभा किसी भी तरह ऐसा करने को तैयार नहीं हुई । हार कर माँ ने जबरन उसका हाथ पकड़कर ॐ लिखवाया । अगले दिन वह स्कूल भी जाने को राजी न थी । स्कूल घर से दो फर्लांग की दूरी पर था । पिताजी दफ्तर जाते समय बलपूर्वक उसे अपने साथ ले गये और स्कूल में छोड़ दिया । परन्तु थोड़ी देर बाद ही शुभा अपनी किताब-कापियाँ गटर में फेंककर घर लौट आयी । स्कूल से उसे लापता देखकर अध्यापिका चिन्तित हो उठीं और सेविका को पता लगाने उसके घर भेजा । शुभा सुरक्षित घर पहुँच गयी है यह संवाद लेकर वह लौट गयी । अगले दिन भी उसकी अनिच्छा के बावजूद उसे स्कूल पहुँचा दिया गया । थोड़ी देर बाद ही सेविका ने घर आकर पूछा, "शुभा घर को लौट आयी है न ?" यह सुनते ही माँ का मन आशंका से परिपूर्ण हो उठा । बिटिया स्कूल से भाग आयी है, परन्तु अब भी घर पहुँची नहीं, तो फिर वह गयी कहाँ ? कहीं कोई दुर्घटना आदि तो नहीं हो गयी ! चिन्ता और भय के कारण माँ धाड़े मारकर रोने लगी । घर में उस समय और कोई न था । पड़ोस के लोग पता लगाने अविलम्ब आ पहुँचे । सब कुछ ज्ञात होने पर सभी विभिन्न दिशाओं में उसे ढूंढ़ने निकल पड़े । काफी तलाश के बाद उसका पता चला । वह एक खेल के मैदान में बैठी थी—एकाकी निस्तब्ध, उदासीन और शून्यदृष्टि से देखती हुई । उसे घर ले आया गया ।

उसी दिन से हँसी, आनन्द एवं खेलकूद से उसकी रुचि चली गयी और उसने बोलना भी बिल्कुल बन्द कर दिया। परन्तु अपने कमरे की सफाई, कपड़े धोना आदि दैनन्दिन कार्य वह पूर्ववत् ही करती रही। शाम को वह मेरे लिए नास्ता और काफी भी लाकर मेज पर रख देती और एक कोने में खड़ी होकर शून्य दृष्टि से ताकती रहती। मेरा खाना हो जाने पर वह बर्तनों को उठा ले जाती, परन्तु बातें बिल्कुल भी नहीं करती थी।

माता-पिता के लाख प्रयासों के बाद भी वह महीनों तक पूर्णत: मौन रही और खेलकूद में भी उसने कोई रुचि नहीं दिखायी। प्रतिदिन वह रसोईघर में माँ के पास जाकर सवेरे एक गिलास दूध, दोपहर में दही-भात और रात में फिर एक गिलास दूध लेकर ग्रहण कर लेती। इसके अतिरिक्त दिन भर वह और कुछ भी नहीं लेती और उदासीन भाव से न जाने किस चिन्ता में डूबी रहती। और कोई उपाय न देख आखिरकार मनोचिकित्सक की राय ली गयी। उन्होंने कहा, "आपकी बच्ची अपनी ही आयु के अन्य बच्चों से मिलने-जुलने का मौका नहीं पाती। इसी कारण उसकी यह अवस्था हो गयी है। उसे उसके हमउम्र बच्चों के साथ खेलने की व्यवस्था कर दीजिए, तो वह ठीक हो जाएगी।"

उसके माता-पिता बाजार जाकर तरह-तरह के खिलौने ले आये और उन्हें अपने बैठकखाने में सजा दिया। इसके बाद वे मुहल्ले के बच्चों को प्रतिदिन शाम को अपने घर आकर खेलने का निमंत्रण दे आये। बच्चे प्रतिदिन उनके यहाँ आकर खेलते पर शुभा उनमें सम्मिलित नहीं हुई। वह बैठकखाने के एक कोने में निर्लिप्त भाव से बैठी

बच्चों का खेलना देखती रहती और उनके बीच किसी तरह का झगड़ा या विवाद होने पर चुपचाप उठकर उन्हें अलग कर देती। खेलना हो जाने पर बच्चों को कुछ खाने के लिए भी दिया जाता था। इसी प्रकार और भी अनेक दिन बीते, पर चिकित्सक के परामर्श के अनुसार चलने का कोई फल नहीं दिखाई पड़ा।

एक दिन शाम को मैं उनके घर में बैठा नास्ता कर रहा था। बातचीत के दौरान शुभा की माँ ने मुझे बताया, "कल आधी रात के समय घोर निद्रा के दौरान शुभा 'कृष्ण' 'कृष्ण' कह रही थी।" यह बात सुनकर मेरे मन में एक तरह का आलोड़न उत्पन्न हुआ। लौटते समय भी वही विचार मेरे मन में घुमड़ रहा था। अगले दिन सुबह तक मेरे मन में एक योजना तैयार हो गयी। शाम को उनके घर में बैठकर काफी पीते हुए मैंने शुभा से कहा, "मेरे पास आकर बैठ, मैं तुम्हें कृष्ण की कथा सुनाऊँगा।" यह सुनकर उसके उदासीन मुखमण्डल पर उत्सुकता का भाव झलक पड़ा। उस दिन मैंने उसके सामने संक्षेप में श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन किया। वह पूरे मनोयोग के साथ चुपचाप सुनती रही। उसके बाद से मैं प्रतिदिन ही उसे थोड़ा थोड़ा करके मीराबाई आदि की कथा सुनाने लगा। कभी कभी कुछ पुस्तकें ले जाकर प्रसंग के अनुसार उसे कुछ चित्र भी दिखाया करता था। पुराणों तथा सन्तों के जीवन की कथाएँ सुनने का उसका आग्रह क्रमशः इतना बढ़ गया कि वह प्रतिदिन शाम को मेरी प्रतीक्षा में खड़ी रहती और दूर से ही मुझे साइकिल पर आते देखकर दौड़ते हुए घर में जाकर मेज पर मेरे लिए जलपान सजा देती, परन्तु बोलती बिल्कुल भी न थी।

एक दिन पहली बार मुख खोलकर उसने मुझसे कहा, "क्या आप मुझे पूजा करना सिखा देंगे ?" मैंने संक्षेप में उसे पूजा की विधि बता दी और बोला, "माँ से कहना कि कल से मैं पूजा करूँगी ।" अगले दिन मैंने उससे पूछा, "क्यों रे, पूजा की थी ?" उत्तर में उदास होकर उसने बताया कि माँ ने उसे पूजा करने की अनुमति नहीं दी । बाद में शुभा की माँ ने मुझे बताया, "देखो बेटा, हम लोग कुलीन ब्राह्मण वंश के हैं । इस छोटी सी बच्ची के हाथ से कुलदेवता की पूजा कराने में भय लगता है कि कहीं कोई अपराध या अनिष्ट न हो जाय । बाद में मैं उसके लिए एक अन्य विग्रह खरीदकर मँगवा दूँगी, फिर वह अपनी रुचि के अनुसार पूजा करती रहे ।"

परन्तु उसकी माँ ने इस घटना को कोई विशेष महत्व नहीं दिया और इसके फलस्वरूप शुभा के लिए पूजा करने की कोई व्यवस्था नहीं हो सकी । थोड़े दिनों बाद मैं एक मेला देखने गया था । वहाँ एक दुकान पर अष्टधातु की बनी श्रीकृष्ण की एक मूर्ति ने मुझे बड़ा आकृष्ट किया और मैं उसे खरीदकर घर ले आया । अगले दिन शुभा के घर जाते समय पैक की हुई वह मूर्ति भी मैं अपने साथ ले गया । पास आने पर मैंने वह पैकेट दिखाते हुए उससे कहा, "तुम्हारे लिए यह उपहार लाया हूँ ।" वह बोली, "मुझे कोई जरूरत नहीं ।" मैंने पुनः कहा, "इसमें बहुत अच्छी चीज है ।" उसने उत्तर दिया, "चाहे जो भी हो । मुझे कुछ नहीं चाहिए ।" तब मैंने पैकेट को खोलकर मूर्ति को निकाला और उसे दिखाया । थोड़ी देर तक अपलक दृष्टि से देखने के बाद उसके मुख पर मृदु हास्य की रेखा झलक उठी । दौड़कर वह आयी और मूर्ति को मेरे हाथ से लेकर

अपने सीने से लगा लिया। मैंने कहा, "माँ के पास से चन्दन आदि पूजा की सामग्री लेकर प्रतिदिन पूजा करना और जो कुछ खाती हो, उसे पहले भगवान को अर्पित करके खाना।"

घर में शुभा का अपना अलग कमरा था। उसी में अपने मेज पर श्रीकृष्ण की मूर्ति को रखकर वह प्रतिदिन पूजा करने लगी। उसके उद्यान में छोटे छोटे फूलों के कुछ पौधे थे। उन्हीं से फूल चुनने के बाद वह एक छोटी सी माला बनाकर विग्रह को पहनाती। अपना सुबह का दूध, दोपहर का दही-भात और रात का दूध कमरे में लाकर श्रीकृष्ण को निवेदित करने के बाद ग्रहण करती। इसके अतिरिक्त वह दिन भर और कुछ भी नहीं खाती थी। एक दिन मैं कुछ टाफियाँ ले गया था, परन्तु उसने उनमें कोई रुचि न ली। तब मैंने कहा, "देख, तू एक ही चीज भगवान को हर रोज खिलाती है। आज इस नयी चीज का भोग देकर उन्हें विस्मित कर देना।" यह सुनकर उसकी आँखों में थोड़ा परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। उसने मेरे हाथ से टाफियाँ ले लीं और विग्रह की दृष्टि से छिपाकर उन्हें अपनी मेज की दराज में रख दिया। बाद में पता चला कि उसने टाफियों को देवता के सामने निवेदित कर प्रसाद के रूप में बच्चों को बाँट दिया था। स्वयं उसने एक भी नहीं लिया।

एक दिन शुभा ने मुझसे कहा, "मामा, आप मुझे वृन्दावन ले चलिए।" मैं बोला, "अभी तो तू छोटी है। फिर मेरे भी माता-पिता हैं, वे अनुमति नहीं देंगे। तू थोड़ी बड़ी हो जा, तब हम दोनों वृन्दावन चलेंगे।" उसने कहा, "लेकिन मैं इतने दिन रहूँगी नहीं।" मेरा मन एक अज्ञात आशंका से परिपूर्ण हो उठा!

कुछ दिन बाद उसकी माँ ने कहा, "मेरी बिटिया कुछ लिखना-पढ़ना सीख नहीं रही है। उसका क्या होगा! तुम्हीं बल्कि उसे थोड़ा पढ़ाओ तो कैसा रहे?" यह बात मुझे भी जँच गयी और मैंने अविलम्ब स्वीकृति दे दी। अगले दिन शाम को मैं एक स्लेट और पेन्सिल लेकर बैठा। शुभा जब आयी तो मैंने उसे अपने निकट ही उसकी छोटी सी कुर्सी पर बैठाया। तदुपरान्त मैंने कहा, "देख, यदि तू स्वयं ही श्रीकृष्ण की बातें पुस्तकों से पढ़ सके तो कितना अच्छा होगा! इसलिए आज से मैं तुझे पढना सिखाऊँगा।" थोड़ी देर वह मेरी ओर करुण दृष्टि से अपलक देखती रही। फिर उसकी आँखों से निकलकर आँसू पड़ने लगे और वह मर्मस्पर्शी स्वर में बोली, "मामा, तुम भी वही बात कहते हो!" उसकी यह अवस्था देखकर मैं थोड़ा घबड़ा गया और उसके आँसू पोंछते हुए बोला, "जाने दे! अब तुझे पढ़ना-लिखना सीखने की आवश्यकता नहीं।" शुभा की उस छोटी सी उक्ति का मर्म मैं उस दिन समझ नहीं सका था, बाद में समझा कि माता-पिता तो उसे संसार में आबद्ध करना चाहते थे और मैं भी वही चाहता हूँ?

इसके बाद से हमारी दिनचर्या पूर्ववत् ही चलती रही। वह प्रतिदिन शाम को चार बजे अपने दरवाजे पर खड़ी उत्सुकता के साथ मेरी प्रतीक्षा करती। एक दिन वहाँ पहुँचने पर मैंने पाया कि शुभा द्वार पर उपस्थित नहीं है। मेरे मन में एक अज्ञात आशंका उदित हुई। साइकिल खड़ी करके मैंने उसके घर में प्रवेश किया। उसकी माँ ने बताया, "शुभा को थोड़ा सा बुखार चढ़ आया है, इसलिए वह लेटी हुई है। चिन्ता की कोई बात नहीं है, बेटा! परन्तु सारे दिन उसने कुछ खाया नहीं है।

डाक्टर ने आकर दवाइयाँ दी हैं, पर वह भी उसे खिला नहीं सकी।" वह अपनी माँ से भी बोलती न थी। मैंने कहा, "ठीक है, देखता हूँ क्या किया जा सकता है!"

मैं जाकर शुभा के बिस्तर पर बैठ गया, देखा तो ज्वर अधिक न था। मैंने पूछा, कुछ खाया नहीं क्यों?" वह मेज पर रखी हुई श्रीकृष्ण की मूर्ति की ओर देखती हुई बोली, "आज मेरी पूजा नहीं हुई।" मैंने कहा, "ठीक है, तुझे चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। तेरे प्रभु की पूजा मैं कर दूँगा।" उसके बाद मैंने दवाइयाँ और थोड़ा सा हार्लिक्स श्रीकृष्ण को निवेदित किया और शुभा को पिला दिया। बाजार से फूल-माला आदि लाकर मैंने संक्षेप में उसके विग्रह की पूजा भी कर दी। सुबह आकर फिर देख जाऊँगा—कहकर मैं घर लौट आया।

अगले दिन प्रातःकाल दूध लाने जाते समय मैं उनके घर भी गया। शुभा की खिड़की से झाँककर मैंने देखा कि वह मजे में सो रही है। कालेज जाते समय भी एक बार दूर से ही उसे देख गया। फिर सन्ध्या के समय अपने सहपाठी मित्र के साथ लौटकर उसके कमरे में गया। उस दिन भी उसने कुछ खाया नहीं था। बाजार से मैं माला आदि लेता गया था। श्रीकृष्ण के विग्रह के गले में उसे सजाकर मैंने पूजा की और दवा के साथ प्रसादी हार्लिक्स मैंने शुभा को पिलाया। उसने कहा, "मामा, मुझे गोद में ले लो।" मैं उसे गोद में लेकर उसके बिस्तर पर बैठ गया। वह बोली, "आज तुम यहीं रह जाओ।" मैंने कहा, "मैं आज तक कभी रात में घर के बाहर नहीं रहा। पिताजी की अनुमति लिए बिना मैं यहाँ कैसे ठहर सकता

घर हूँ ? न लौटने पर मेरी माँ भी बड़ी चिन्तित होंगी । मैं कल सुबह आकर फिर तुम्हारी खबर लेता जाऊँगा ।"

तीसरे दिन फिर सुबह और बाद में कालेज जाते समय भी मैं उसे देख गया । सो रही थी इसलिए मैंने उसे डिस्टर्ब नहीं किया । कालेज से लौटकर मैंने उसके विग्रह की पूजा समाप्त की और उसे कुछ खिलाया । तत्पश्चात् उसके अनुरोध पर मैं उसे गोद में लेकर बैठ गया । शुभा ने कहा, "मामा, मुझे वृन्दावन ले चलो ।" मैं बोला, "अभी तो तू जल्दी से जल्दी ठीक हो जा, और थोड़ी बड़ी हो जा, फिर तुझे अवश्य ही वृन्दावन ले जाऊँगा ।" उसने कहा, "लेकिन मैं रहूँगी नहीं ।" उसके कहने की भाव भङ्गिमा देखकर मेरे मन में भय का संचार हुआ । तदुपरान्त वह बोली, "अच्छा, आज तुम घर मत जाना ।" उस दिन बुखार थोड़ा बढ़ गया लगता था, अतः अपने मित्र के द्वारा मैंने अपने घर सन्देश भेज दिया कि आज लौटूँगा नहीं । रात हो जाने पर हम लोग बारी बारी से रसोईघर में जाकर भोजन कर आये ।

सोते समय उसके पुनः अनुरोध करने पर मैं उसे गोद में लेकर उसके बिस्तर पर बैठ गया । उसके माता-पिता ने भी उसी कमरे में चटाई बिछाकर अपने सोने की व्यवस्था कर ली । सोच रहा था कि शुभा को नींद आ जाते ही मैं भी मित्र के कमरे में जाकर सो जाऊँगा । इसी प्रकार बैठे बैठे काफी समय बीत गया और मुझे भी थोड़ी थोड़ी तन्द्रा आने लगी थी । अचानक ही एक विचित्र सा शब्द सुनकर मेरी चेतना लौट आयी । देखा तो शुभा 'कृष्ण' 'कृष्ण' कहकर पुकार रही थी और उसके गले से एक भयानक गरगराहट की ध्वनि निकल रही थी । लग

रहा था मानो अभी उसके प्राण उन्मुक्त हो जाएँगे। आतंक से सिहरकर मैं 'माँ' कहते हुए चीत्कार कर उठा। परन्तु इसके साथ ही शुभा ने अपनी छोटी सी हथेली से मेरा मुँह बन्द कर दिया और बोली, "उन्हें बुलाने की आवश्यकता नहीं।" मेरे नेत्रों से अविरल अश्रु झरने लगे। उसने हाथ बढ़ाकर मेरे आँसू पोंछ दिये। स्मरण हो आया कि एक दिन ठीक इसी प्रकार मैंने भी उसकी आँखों का जल पोंछा था। फिर उस आधी रात के मद्धिम रोशनी में शुभा एक बार कृष्ण के विग्रह की ओर देखती थी और फिर मेरे मुख की ओर देखती थी। तदुपरान्त वह पुनः विग्रह की ओर देखती और उसके बाद मेरी ओर देखने लगती। इस प्रकार बारम्बार श्रीकृष्ण की मूर्ति का अवलोकन करते देख मैंने सोचा कि क्यों न मूर्ति को उसकी गोद में ही दे दूँ। मैं उसे बिस्तर पर लिटाकर उठ पड़ा। और सबसे पहले कृष्ण के गले से माला निकालकर मैंने उसके गले में पहना दिया। फिर मूर्ति को उसके हाथ में देकर मैं पुनः उसे गोद में लेकर बैठा। मूर्ति को उसने सीने से चिपका लिया। थोड़ी देर 'कृष्ण' 'कृष्ण' का उच्चारण करने के बाद उसके कण्ठ से एक मर्मस्पर्शी गरगराहट की ध्वनि निकली और उसके प्राणपखेरू उड़ गये। देखा तो उसके शरीर में अब जीवन का कोई स्पन्दन शेष न था। मैंने उसे गोद में लिए हुए ही उठकर उसकी माँ को पुकारा और उनकी गोद में शुभा को लिटा दिया। उसकी माँ नींद से अचानक ही उठी थीं और वे शुभा के गले में माला एवं सीने से लगी कृष्ण की मूर्ति को देखकर कुछ समझ नहीं पायीं। परन्तु वहाँ ठहरकर वस्तुस्थिति उन्हें समझाने की उस समय मेरी मनःस्थिति न थी।

उस मध्यरात्रि को ही मैं निःशब्द उनके घर से निकल आया और रास्ते के एक पार्क में बैठा सुबह तक अश्रु-विसर्जन करता रहा। प्रातःकाल घर लौटने पर शुभा के पिता का भेजा हुआ सन्देश मुझे मिला, "आपके साथ ही उसका विशेष लगाव था, अतः आप ही आकर उसका शेष कृत्य कर जायँ, तो अच्छा होगा।" परन्तु मैं नहीं गया और बाद में भी मैंने उन लोगों के साथ कोई सम्पर्क नहीं रखा।

●

भगवन्नाम-महिमा

स्वामी शशांकानन्द

आचार्य रामकृष्ण मिशन
समाज सेवक शिक्षण मन्दिर
बेलुड़ मठ, हावड़ा

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम ने स्वयं ही नाम की महिमा का वर्णन करते हुए श्री हनुमान, भरत आदि से कहा था—

मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह ।
ताकर सुख सोइ जानई, परानन्द संदोह ।।

"जो व्यक्ति मेरे गुण समूह तथा नाम का अनुरागी है और ममता मद तथा मोह से मुक्त है, उस व्यक्ति का सुख तो वही जानता है जो परमानन्द को प्राप्त कर चुका है।"

मधु कैसा है ? इस प्रश्न के पूछे जाने पर हम मधु का रूप-रंग तो बता सकते हैं, पर उसके मिठास का वर्णन नहीं कर सकते । श्री भगवन्नाम की महिमा का वर्णन करना भी उसी प्रकार है। इसमें अनन्त माधुरी एवं प्रचण्ड शक्ति विराजमान है, किन्तु उस रस-माधुरी का पान केवल वे भाग्यशाली ही कर सकते हैं जो नामपरायण हैं और जिनके ममता, मद एवं मोह दूर हो चुके हैं । यह तो रसास्वादन का विषय है, वर्णन का नहीं। अत: जो श्री भगवन्नाम की महिमा जानना चाहे, उसके लिए मानसकार ने एक ही रास्ता बताया है—

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ ।
नाम जीह जपि जानहिं तेऊ ।।

अत: जैसे मधु की मिठास जानने के इच्छुक के लिए मधुपान करना ही एकमात्र पथ है, श्री भगवन्नाम की

रसमाधुरी का आनन्द लेने के लिए श्री भगवन्नाम का ही जप करना होगा ।

प्रभु ने हमें नाम जपने के लिए जिह्वा दी है और जिह्वा के लिए नाम उच्चारण करना सहज भी है, पर इसके बावजूद नाम परायण होना अत्यन्त कठिन है। इसका कारण यह है कि ममता, मद और मोह जीव को नाम-माधुरी का आस्वादन नहीं करने देते, फलत: मनुष्य अमृत-रस को बिसारकर विषय-रस के पीछे दौड़ता रहता है और मृत्यु को प्राप्त होता है।

नाम-रस की माधुरी

श्रद्धावान व्यक्ति जब गुरुप्रदत्त श्री भगन्नाम का जप आरम्भ करते हैं, तब जैसे-जैसे हृदय स्वच्छ होता जाता है. वैसे-वैसे ही उसे प्रभुनाम की रस-माधुरी का अनुभव होने लगता है। अनन्त जन्मों के वासनापुंज कट जाते हैं । विषयरूपी पित्त से दूषित रसना की कटुता मिटाने के लिए श्री भगवन्नाम रूपी मिश्री की आवश्यकता है। जिसका यह अन्तिम जन्म है, उसे एक बार ही श्री भगवन्नाम सुनने से उसकी मधुरता का आस्वादन मिल जाता है। कहते हैं कि श्री चैतन्य महाप्रभु की बाल्यावस्था में उनके रोने पर उनकी माता श्री भगवन्नाम सुनाकर ही उन्हें चुप करा पाती थीं ।

यही महिमा उनके द्वारा उच्चारित भगवन्नाम की भी है। जब इन महापुरुषों की मधुमयी रसना पर श्री भगवन्नाम पड़ता है तो अपूर्व रसधारा प्रवाहित होने लगती है और उनके रोम-रोम से अभिव्यक्त होना चाहती है। जब वे प्रेमोन्मत्त होकर हरिनाम संकीर्तन करते हैं, तो

भगवन्नाम की ध्वनि चारों दिशाओं को पवित्र करती हुई जिसके भी कर्णकुहरों में प्रवेश करती है, उसके हृदय म प्रेम और भक्ति का संचार होता है और वह व्यक्ति भी भगवन्नाम-परायण हो जाता है। श्री चैतन्यदेव, मीरा, नानक, तुलसी, कबीर और श्रीरामकृष्ण ने श्री भगवन्नाम रस-माधुरी का पान किया था। इन्होंने इस रस-माधुरी का स्वाद पाया था और दूसरों को भी चखाया था। अतः नाम की महिमा और नाम का रसास्वादन तो अनुभूति का विषय है। जैसे मधु की मिठास मधुपान करने से ही ज्ञात हो सकती है, वैसे ही नाम की महिमा भी नामपरायण व्यक्ति ही जान सकते हैं। इसीलिए गोस्वामी जी ने कहा——

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई।
राम न सकहिं नाम गुन गाई।।

यद्यपि सभी जानते हैं कि नाम के गुण भगवान भी नहीं गा सकते——

तदपि कहे बिनु रहा न कोई।।

अतः साधना के रूप में ,मन-बुद्धि और इन्द्रिय को पवित्र करने के लिए हम भी 'स्वान्तःसुखाय' श्री भगवन्नाम चर्चा का उपक्रम कर रहे हैं।

नाम प्रभाउ जान सिव नीको

विद्वानों ने नाम के विभिन्न अर्थ बताए हैं और उन अर्थों के द्वारा नाम के प्रभाव को जानने का प्रयास किया है।

'नाम' का पहला अर्थ है, जिससे मधुर और कोई वस्तु न हो। जिस पदार्थ में आ-समन्तात्, मा——माधुर्य श्री हो उसे 'आम' कहते हैं और 'नास्ति आमं यस्मात्'

जिससे बढ़कर त्रिभुवन में कोई भी मधुर वस्तु न हो, उसी को मधुरातिमधुर 'नाम' कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि जो व्यक्ति इस मिठास को चख लेता है उसे और कोई मिठास अच्छी नहीं लगती और वह अन्य सभी मीठी वस्तुओं को त्याग देता है—

सकल कामना हीन जे, राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूप हृद, तिन्हहुँ किए मन मीन।।

जिन्होंने सब प्रकार की कामनाओं से अपने मन को विरत कर लिया है और जो सदा श्रीराम की भक्ति के रस में डूबे रहते हैं, उन्होंने नाम के सुन्दर प्रेमरूपी अमृत सरोवर में अपने मन को मानों मछली बना रखा है। अर्थात् वे इस नामामृत-रस को छोड़कर जीवित ही नहीं रह सकते और केवल ऐसे व्यक्ति ही नाम की सच्ची महिमा को जानते हैं।

नाम प्रभाउ जान सिव नीको।
कालकूट फलु दीन्ह अमी को।।

नाम का प्रभाव भगवान शिव भलीभाँति जानते हैं। उन्होंने अनुभव किया कि नाम की मधुरता में हलाहल की कटुता भी अमृत बन गयी थी।

विद्वानों ने 'नाम' का एक दूसरा अर्थ भी निकाला है। 'न अमा—अन्धकारः स्यात्' अर्थात् जिससे अन्धकार नहीं रह जाता। मोह-तिमिर को नाम अपने ज्ञानालोक के द्वारा दूर कर देना है। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ, जौं चाहसि उजियार।।

तुलसीदास जी ने रामनाम को वह मणि दीपक बताया है जिसे मुखरूपी द्वार की जीभरूपी देहली पर रखने से भीतर और बाहर दोनों ओर उजाला हो जाता है।

भगवन्नाम का एक अर्थ ऐसा भी निकलता है. विष्णु पुराण में 'भग' शब्द छः दिव्य गुणों का वाचक बताया गया है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।।

अर्थात्—समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छः गुणों को 'भग' कहते हैं और इनसे सम्पन्न भगवान के नाम को ही भगवन्नाम कहते हैं। नाम और नामी अभेद होने के कारण स्वभावतः भगवन्नाम में भी वे सारे गुण निहित होते हैं ।

नाम एक सम्बोधन है

प्रश्न उठता है कि हम भगवान का नाम क्यों लें ? इसलिए कि नाम उन्हें पुकारने का साधन है, एक सम्बोधन है। किसी व्यक्ति को सम्बोधित करने के लिए हमें उसे उसके नाम से ही पुकारना पड़ता है । बिना सम्बोधन आप किसी को कैसे बुलाएँगे ? यदि आप किसी को उसके नाम से न पुकार कर 'ए' 'ओ' ऐसा कहकर पुकारें तो वह व्यक्ति अपने को असम्मानित मानता है। अतः भगवान को सम्बोधित करने के लिए भी उनके नाम से ही पुकारना चाहिए । सम्बोधन का सन्धि विच्छेद करें तो 'सम्-बोधन' होता है। अर्थात् जिससे सम्यक् बोध हो उसे सम्बोधन कहते हैं।

माँ एक सम्बोधन है। पुत्र ने पुकारा 'माँ' और माँ के हृदय में प्रेम का संचार हो गया । माँ ठहर न सकी।

उसने झट से अपने बच्चे की ओर देखा। माँ ने अपने बेटे को पुकारा 'मोहन' और बच्चे के हृदय में माँ के प्रति प्रेम उमड़ आया। वह तुरन्त दौड़ पड़ा और जाकर उसने माँ की गोद में मुँह छिपा लिया। भगवन्नाम भी ऐसा ही है, जिस नाम से भक्त ने पुकारा उसी से सम्बन्धित रूप-वाले भगवान उसके सामने प्रगट हो जाते हैं।

जैसे 'गाय' शब्द के उच्चारण से एक गाय का रूप सामने आ जाता है; आप अपने किसी प्रिय सम्बन्धी का नाम लीजिए, तो हजारों मील दूर होते हुए भी उसका रूप सामने आ जाता है; वैसे ही——

देखिअहिं रूप नाम आधीना।
रूप ग्यान नहिं नाम विहीना।।

भगवन्नाम में वह शक्ति है, जो भगवान के रूप को सामने ला देती है और इस प्रकार भगवान की कृपा प्राप्त करा देती है।

भगवन्नाम दो प्रकार के हैं (१) वर्णात्मक : वर्णों से मिलकर जो नाम बनता है, उसे वर्णात्मक नाम कहते हैं, जैसे——राम, कृष्ण, काली, दुर्गा आदि। (२) ध्वन्यात्मक-जो सहस्रार में उठ रहे नाद का प्रतीक हो, उसे ध्वन्यात्मक नाम कहते हैं, जैसे——प्रणव ध्वनि। भगवान के असंख्य नाम हैं। श्रीभगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

ऋग्वेदे सयजुर्वेदे, तथैवाथर्वसामसु।
पुराणे सोपनिषदे तथैव ज्योतिषेऽर्जुन।।
सांख्ये च योगशास्त्रे च आयुर्वेदे तथैव च।
बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः।।

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, पुराणों, उपनिषदों, ज्योतिष, सांख्य, योग और आयुर्वेद इन सभी

शास्त्रों में महर्षिगण मेरा बहुत से नामों से कीर्तन करते हैं, असंख्य नामों से मेरी महिमा गाते हैं और उसके प्रभाव के बारे में गोस्वामीजी कहते हैं—

राम नाम कर अमित प्रभावा ।
संत पुरान उपनिषद् गावा ।।

—"राम नाम का अनन्त प्रभाव है, ऐसा सन्तों, पुराणों और उपनिषदों ने उसकी महिमा का गान किया है।" यहाँ तक कि यह ब्रह्मानुभूति के सुख की भी उपलब्धि करा देता है–

सुख सनकादि सिद्ध मुनि जोगी ।
नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी ।।

—"शुकदेव, सनकादि ऋषि, सिद्ध, मुनि और योगियों ने भी नाम की कृपा से ही ब्रह्मसुख का अनुभव किया है।"

तो ऐसी है भगवन्नाम की महिमा !

गुरुकृपा और व्याकुलता

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के परमाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने रामकृष्ण मठ, तमलुक (पश्चिम बंगाल) के भक्तों के समक्ष बंगला में आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित कुछ बातें कही थीं, जो लिपिबद्ध होकर उसी मठ के स्मारिका में प्रकाशित हुई। इस प्रवचन की उपादेयता को देखते हुए हम इसका एक अविकल अनुवाद प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक हैं रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के स्वामी ज्ञानातीतानन्द। –स.)

साधना पथ में गुरु का संग सहायक होता है, इसलिए जितना अधिक सम्भव हो गुरु के सान्निध्य में रहने का प्रयत्न करना होगा। प्रकृत गुरु सर्वदा विद्यमान हैं––जो इष्ट हैं, वही गुरु हैं। परन्तु प्रारम्भ से ही उनके साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं हो सकता, इसीलिए दीक्षा-गुरु की आवश्यकता है। वे ही वास्तविक गुरु (ईश्वर) के प्रतीक होकर दीक्षा के माध्यम से लोगों के संस्पर्श में आते हैं। मानव देहधारी गुरु रोग, शोक, जरा तथा मृत्यु के अधीन होते हैं। परन्तु वास्तविक गुरु नित्य सत्ता में विराजित रहते हैं। दीक्षा-गुरु हम लोगों के पथ प्रदर्शक हैं।

एक विशेष बात हम सभी लोगों को जानना आवश्यक है––व्याकुलता के बिना भगवान की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु जब हम लोगों की साधना में कोई उत्साह नहीं रहता, जीवन के एकमात्र लक्ष्य ईश्वर से जुड़ने का आग्रह नहीं रहता, तब हम कहते हैं कि जब उनकी कृपा होगी, तब उन्हें पुकारूँगा। परन्तु उनकी कृपा के लिए हममें व्याकुलता कहाँ है? इस व्याकुलता के न होने से पास आकर भी कोई लाभ नहीं होगा। उनकी कृपा की उपलब्धि नहीं हो रही है, क्योंकि इसके लिए हृदय में

आकांक्षा होनी चाहिए। रेडियो में तरंग-नियंत्रण ठीक होगा, तभी तो उसके द्वारा आकाश में प्रवाहमान तरंग पकड़ में आएगी। ठीक वैसे ही यदि हम लोग अपने हृदय-यन्त्र को भलीभाँति तैयार न कर सके, तो उच्चस्तर के भाव को ग्रहण भी नहीं कर सकेंगे। भाव-तरंग बहती रहेगी और हम लोग जहाँ हैं वहीं रह जाएँगे: हमलोगों में कोई परिवर्तन नहीं आएगा।

साधक का प्रधान लक्षण है—मन में तीव्र व्याकुलता और आग्रह। मान लो वे (ईश्वर) आकर हम लोगों के सामने खड़े हो गए, तो क्या हम कहेंगे—ठहरिए भगवान, पहले हाथ का काम पूरा कर लूँ, फिर आपके पास आऊँगा? हम लोग कहते रहते हैं कि हमारे पास भगवान को पुकारने का समय ही कहाँ है? हम लोग अन्य सभी कार्यों को कर्तव्य मानते हैं, परन्तु भगवान को पुकारना अपना कर्तव्य नहीं मानते। और यदि कम उम्र क लड़के-लड़कियाँ भगवान को पुकारते हैं, तो हम लोग उनको डाँटते हैं, "क्या पागलपन करते हो! यह सब वृद्ध हो जाने पर, जब और कोई काम नहीं रहेगा तब करना।" कहाँ, हम लोग ऐसा तो नहीं कहते कि पहले भगवान की प्राप्ति करो, उसके बाद अन्य कार्य करना। श्रीरामकृष्णदेव कहते थे, "एक हाथ से भगवान को पकड़ो और दूसरे हाथ से संसार के कार्य करो।" अर्थात् भगवान को पकड़े रहना ही मुख्य कर्तव्य है।

हम लोग कहते हैं कि हमें अवसर नहीं मिलता, इसीलिए उन्हें पुकार नहीं पाते। यह स्वयं को धोखा देना है। ईश्वर को पुकारने में हम लोगों के पूर्वजन्म के संस्कार कार्य करते हैं। जिन लोगों ने पूर्वजन्म में सत्कर्म किये हैं,

उन्हीं का मन भगवान की ओर उन्मुख होता है, परन्तु अन्य लोगों के मन में यह अनुभूति जाग्रत नहीं होती। वास्तव में ईश्वरप्राप्ति की आकांक्षा होनी चाहिए। उसके नहीं होने से मनुष्य का धर्मजीवन शुरू ही नहीं होता। जिसके मन में यह आकांक्षा है, वह साधन-भजन के पथ का अनुसरण करेगा, भगवान का चिन्तन करने वाले लोगों का संग करेगा तथा अपने जीवन के कार्य सत् हैं या नहीं, इस पर विचार करेगा। अन्यथा नदी के किनारे पर बैठा हूँ, जल का प्रवाह चला जा रहा है, परन्तु जल पीना नहीं होगा। उसी प्रकार उनकी कृपा विद्यमान है, तथापि हम लोग भूखे ही रह जाते हैं। अब मान लीजिए कि इष्ट, गुरु और सत्संग तीनों ही अनुकूल हैं परन्तु मन बिगड़ गया, तो कार्य नहीं होगा। जैसा कि कहा गया है—

"गुरु, कृष्ण, सन्तजन, तीनों की है दया।
पर एक की दया बिना, सब नष्ट हो गया॥"

इसलिए मन को भगवान की ओर ले जाना होगा। जिस प्रकार से मन को ले जाना होगा, उसी का नाम साधना है। साधना करते करते जब व्याकुलता बढ़े और ऐसा लगे कि भगवान के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, तब समझना होगा कि अब समय आ गया है, सूर्योदय होने ही वाला है। व्याकुलता हुई तो अरुणोदय हुआ अर्थात् भगवत्प्राप्ति में देरी नहीं है। यह शुभ क्षण आ जाने पर हमारा मन अन्य किसी कार्य में नहीं लगेगा।

हम लोगों को दुर्लभ मनुष्य जन्म मिला है, शास्त्रपाठ करने का हाथ में अवसर है, किसी किसी के भीतर मुमुक्षुत्व भी है, भाग्य से गुरुकृपा भी मिल गई है, परन्तु इन सबके होने पर भी, केवल मन या प्रयत्न के अभाव

में ही हम स्वर्णिम अवसर से वंचित रह जाएँगे। हम लोगों को जीवन का अपव्यय नहीं करना चाहिए—मानव जीवन अमोल है।

ईश्वर की कृपा से, "मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुष-संश्रयः"—अर्थात् मानव जन्म, मुक्ति की इच्छा तथा महापुरुष का सान्निध्य मिलता है। परन्तु यदि कोई ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा के साथ जीवन आरम्भ करे, तो ये तीनों स्वयं ही आ जाते हैं।

एक छोटा बच्चा बहुत बीमार था। एक व्यक्ति ने उसकी दवा इस प्रकार बतायी—स्वाति नक्षत्र में वर्षा हो, उसका जल मुर्दे की खोपड़ी में गिरे, वही जल रोगी को पिलाने से वह ठीक हो जाएगा। जिसका बच्चा बीमार था, उसके मन में तीव्र व्याकुलता हुई, सब घटनाएँ वैसी ही घटीं और रोग दूर हो गया। तात्पर्य यह कि यदि कोई आन्तरिक भाव से प्रयत्न करे तो उसके लिए सब कुछ जुट जाएगा; पथ में अनेक बाधाएँ हैं, किन्तु उनकी कृपा से वे सभी दूर हो जाएँगी।

अनेक सुयोग जुटें, तभी साधना होती है। इसी सुयोग के लिए हृदय में विश्वास लेकर धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी होगी। रास्ता सरल नहीं है। पग-पग पर बाधाएँ हैं; किन्तु कोई भी बाधा साधक के पथ को रोक नहीं सकेगी। आन्तरिक व्याकुलता लेकर हम लोग प्रार्थना करें—"हे प्रभु, हम लोगों का जन्म ऐसे काल में हुआ है, जब आपका आविर्भाव तथा प्रकाश चारों ओर व्यक्त हो रहा है। इससे हम लोगों का यात्रापथ सुगम हो गया है। इस

समय यदि आपके मन्दिर में उपस्थित न हो सकें, सुयोग न जुटे, तो यह जन्म वृथा ही चला जाएगा।" इस प्रकार प्रार्थना करने से स्वाति नक्षत्र के जल आदि की तरह सब सुयोग जुट जाएगा। हम सभी श्रीरामकृष्ण, श्री माँ और स्वामीजी के चरणों में प्रणाम करके अनन्य मन से प्रार्थना करें कि, हम लोगों का जीवन सफल हो, सार्थक हो।

संवाद और सूचनाएँ

स्वामी तपस्यानन्दजी महाराज की महासमाधि

विश्वव्यापी रामकृष्ण मठ तथा मिशन के वरिष्ठ सहाध्यक्ष तथा रामकृष्ण मठ, मद्रास के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी तपस्यानन्दजी महाराज ३ अक्तूबर, १९९१ की शाम को ६ बजकर ३२ मिनट पर महासमाधि में लीन हो गये। उनकी आयु ८७ वर्ष की थी। ४ अक्तूबर को दोपहर ढाई बजे उनके पंचभौतिक शरीर का अग्नि-संस्कार किया गया। उक्त अवसर पर उन्हें श्रद्धांजलि देने के निमित्त उनके अनेक शिष्य तथा सहस्रों भक्त उपस्थित थे।

महाराज का जन्म केरल प्रान्त के ओट्टपालेम नामक स्थान में 1904 ई. में हुआ था। अल्प वय में ही वे साहित्य पढ़कर रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के सम्पर्क में आये। 1924 ई. में उन्हें स्वामी शिवानन्दजी (महापुरुष महाराज) से मंत्रदीक्षा

प्राप्त हुई। फिर मद्रास के प्रेसीडेंसी कॉलेज में अपनी शिक्षा करके 1926 ई. में उन्होंने रामकृष्ण संघ में प्रवेश लिया 1932 ई. में उन्हें महापुरुषजी से ही संन्यास-दीक्षा प्राप्त हुई।

1940 ई. में वे रामकृष्ण मिशन के त्रिवेन्द्रम केन्द्र के प्रमुख नियुक्त हुए, जहाँ तीस वर्षों तक कार्यरत रहकर उन्होंने दक्षिण में मिशन के श्रेष्ठतम एवं विशाल अस्पताल का निर्माण कराया। तत्पश्चात् 1971 में वे मद्रास मठ के अध्यक्ष हुए। 1967 से ही वे रामकृष्ण मठ/मिशन के एक ट्रस्टी थे और 1985 से इसके सहाध्यक्ष भी हुए।

स्वामी तपस्यानन्दजी महाराज अंग्रेजी तथा संस्कृत दोनों ही भाषाओं के महान पण्डित थे। 1931 से 1939 ई. तक वे मद्रास से निकलने वाले मठ के आंग्ल मासिक 'वेदान्त-केसरी' के सम्पादक रहे। उन्होंने संस्कृत से अनेक शास्त्र-ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद किया, जिनमें प्रमुख हैं— श्रीमद्भागवतम्, अध्यात्म-रामायण तथा वाल्मीकि रामायण का सुन्दर काण्ड।

उनका जीवन ज्ञान एवं भक्ति के समन्वय तथा 'सादा जीवन उच्च विचार' का एक ज्वलन्त निदर्शन था। अपने कठोर त्याग-तपस्यामय जीवन तथा प्रीतिपूर्ण व्यवहार के कारण वे संघ के संन्यासियों तथा विभिन्न प्रान्त के साधकों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय थे। अपने परिनिर्वाण से वे असंख्य भक्तों को शोकमग्न तथा रामकृष्ण संघ में एक महान शून्य की सृष्टि कर गये हैं, जिसकी पूर्ति प्रायः असम्भव है।

●